HINDI PROSE SELECTIONS

FOR

HIGH SCHOOLS

卐

आदर्श साहित्य

卐

ALLAHABAD:

THE INDIAN PRESS, LIMITED.

1928

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd ,
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd ,
Benares-Branch.

PREFACE

Prose is the chief test of the growth of a living language. While poetry is the production of a few imaginative and peculiarly observant souls, Prose has a direct touch with the practical world. It has an everyday life concern. It covers a very vast field of literature. It is the true index to the growth of national mind.

Hindi prose, though a thing of recent times, is by no means negligible. It has made vast progress in the last two or three decades and its champions are increasing everyday. Still it is a matter of regret and misfortune that school text-books have not risen to the situation. They have simply followed the old tradition that Indians love to live in the past and not in the present.

The present prose selection is a deviation from the beaten path. It touches almost all reputed living authors. It deals with subjects of living interest. The aim in view is not to give difficult words or queer artificial phrases, but to lay before our young men specimens of good prose. It is hoped that boys will learn to take interest in Hindi Literature.

GANGA PRASAD.

विषय-सूची

संख्या	विषय		पृष्ठ

आदर्श साहित्य

१—संसार-महानाट्यशाला

[पं० बालकृष्ण भट्ट]

पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—पञ्चमहाभूत—की बनी यह विस्तृत नाट्यशाला उस चतुर-शिरोमणि, सकल-गुण-आगर, नट-नागर, महानट, अनोखे खेलवाड़ी सूत्रधार के खेलवाड़ की ऐसी रङ्गभूमि है जिसमें दृश्य-अदृश्य रूप से भासमान हो वह दर्शकों की दृष्टि से मायामयी जवनिका के भीतर छिप अपने महा विराट् वैभव के अनेकों ऐसे अभिनय किया करता है जिनमें शृङ्गार, वीर, करुण आदि नवों रस बारी-बारी स्थायी और सञ्चारी होते हुए तमाशबीनों को अद्-भुत तमाशे दिखलाते हैं। स्वभाव-मधुराकृति प्रकृति उस महा सूत्रधार की सहचारिणी नर्त्तकी इस नाट्यशाला की नटी है। पृथक्-पृथक् नाम रूप में विचित्र वेषधारी जीव-समूह सब उस बड़े नटनागर की नाट्यशाला के सहायक सहकारी नट हैं। इस अद्भुत नाट्यशाला का अभिनय रात-दिन हर घण्टे, हर घड़ी, प्रति पल, प्रति निमेष, अविच्छिन्न रूप से हुआ करता है—न तो कोई ख़ास घण्टा या मिनिट मुक़र्रर है कि

इस समय से इस समय तक अभिनय होगा और इस समय इस नाट्यशाला का दर्वाज़ा खुलेगा और न फ़ीस का कोई नियम है कि अमुक-अमुक तमाशबीनों से इस-इस दरजे की फ़ीस ली जायगी। उस बड़े नटनागर ने सबों को अपना अभिनय देखने की आज्ञा दे रक्खी है। उसकी नज़र में कोई छोटा या बड़ा हई नहीं। उसका प्राणि-मात्र पर एक भाव और सबों के साथ एक-सा बर्ताव है।

सब जीवराशि का निरन्तर कोलाहल इस नाट्यशाला का संगीत है। एक ओर जयध्वनि-पूरित हर्ष-निस्वन, दूसरी ओर क्लेश और करुणा में भरी हुई रोने की आवाज़ तथा जीवराशि-रूपी अद्भुत यन्त्र की अनोखी तान, दर्शकों के मन में एक ही क्षण हर्ष और शोक में मिला हुआ अनिर्वचनीय भाव पैदा करती हैं। सूर्य-चन्द्रमा, ग्रह-नक्षत्र, सरित्-समुद्र, अभ्रं-लिह अत्युच्च शिखरवाले हिम-धवलित पर्वत इत्यादि कारण-सामग्री लाखों वर्ष की पुरानी हो जाने पर उनके द्वारा जो अभिनय दिखलाये जाते हैं वे सब नये से नये और टटके से टटके होते हैं। अचिन्त्य-चातुर्य्य-समन्वित, विराट् मूर्तिमय यह सम्पूर्ण जगत् देख देखनेवाले के मन में रौद्र, वीर, भयानक, अद्भुत आदि रस एक साथ स्थान पाते हैं और उस 'पुरुष-पुरातन' 'महाकवि' की महिमा का विस्तार प्रतिपद में प्रकट करते हैं।

अब अन्तर उस बड़े नट के नाटक और हम लोगों के नाटक में यह है कि हम लोग इस दृश्य-काव्य-नाटक में असल

की नक़ल कर दिखलाते हैं और वह अपने नाटक में जो कुछ नक़ल कर रहा है वह माया-जवनिका के कारण हमें असल और सत्य मालूम होता है। देखनेवालों के चित्त में उसकी भाँति-भाँति की नक़ल का यहाँ तक सच्चा असर होता है कि वे विवश हो झूठ को सच मान तदाकार हो जाते हैं। और उसके अचिन्त्य दिव्य रूप को—जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा, ऊँचे से ऊँचा, दूर से दूर, समीप से समीप है,—सर्वथा भूल जाते हैं तथा उसे और का और समझ गोते खाया करते हैं और निन्यानवे के फेर में पड़ इस चक्कर के बाहर कभी होते ही नहीं। माया की फाँसी से जकड़े हुए हम लोग उससे अपने को अलग मान अपनी भलाई और तरक़्क़ी की अनेक चेष्टा करते हैं किन्तु किसी अदृष्ट दैवी शक्ति से प्रेरित हो जो चाहते हैं वह नहीं होता।

अपना चेता होत नहिं, प्रभु चेता तत्काल।

जिसका कभी सपने में भी ख़याल नहीं किया जाता वह आ पड़ता है। हमें पात्र बना जिस अभिनय को उसने हमारे द्वारा आरम्भ किया था वह यदि पूरा उतर आया तो हम फूले नहीं समाते और भाग्यवानों की श्रेणी में अपना औवल दरजा क़ायम कर लेते हैं। सर्वथा स्वच्छन्द निरङ्कुश उस छिपी दैवी शक्ति पर ज़रा भी ध्यान न दे 'हम सब भाँति समर्थ हैं' यही समझने लगते हैं। बड़े शूर-वीर योद्धा सम्राट्-चक्रवर्ती को भी, जिनके एक बार के भृकुटि-विक्षेप में भूडोल आ जाने की

सम्भावना है, हम महाप्रभु हैं; राम, युधिष्ठिर, तथा सिकन्दर और दारा प्रभृति विजेता जगद्विजयी हमारे आगे किस गिनती में हैं। उशना और वाचस्पति को तो हमारा वाग्वैभव देख शरम आती ही है, चतुरानन भी अपनी चतुराई भूल अचरज में आ हक्का-बक्का बन बैठता है, हम सब भाँति सिद्ध हैं, पूर्ण-काम हैं; न हमारे सदृश किसी ने यज्ञ किया होगा, न हम-सा दानी कोई दूसरा है; आज हमने एक मुल्क फ़तेह किया, कल दूसरा अपने वश में कर लेंगे, अपने विपक्षी शत्रुओं को बीन-बीनकर खा डालेंगे, एक को भी जीता न छोड़ेंगे; कटक से अटक तक हमारी पताका फहरा रही है, संसार की कोई जाति या फ़िरक़े नहीं बचे जिनके बीच यदि हमारा नाम लिया जाय तो वे थर्रा न उठते हों, हम सभ्यता की चरम सीमा को पहुँचे हैं, किसकी इतनी हिम्मत या ताक़त जो हमारी बराबरी कर सके; तुम जित हो हम विजेता हैं; हम तुम्हारे स्वामी हैं, प्रभु विष्णु हैं, हम जो करेंगे और सोचेंगे, हम जो क़ानून गढ़ दें वही तुम्हारे लिए व्यवस्था है, तुम हमारे वशंवद हो, इसलिए हम जो कहें वह तुम्हें करना ही पड़ेगा; हमारा खाना, हमारा पान, हमारी रहन, हमारी सहन, सबमें हमारे समान बनो; देखो, सम्हले रहो किसी बात में अपनापन न आने पावे; तुम्हें हम जब किसी बात में अपनापन ज़ाहिर करते देखते हैं हमारा जी कुढ़ जाता है, जो कुछ तुम्हारी भलाई भी कभी किसी तरह हो सकती उसे भी हम रोक देते हैं; हम नहीं

चाहते कि ऐसी किसी बात का अङ्कुर भी रह जाय जिसमें तुम ज़ोर पकड़ हमारी बराबरी करने लगो, इत्यादि भाव हमारे मन में उस समय उठने लगते हैं जब उस छिपो दैवी शक्ति की प्रेरणा से हम कृत-कार्य और सफल-मनोरथ हो जाते हैं।

वही यदि अपनी कर्त्तव्यता में हम कृतकार्य न हुए और जो अभिनय वह हमसे करा रहा है वह पूरा न उतरा तो हम उदास, विषण्ण-वदन, अत्यन्त दुखी हो जाते हैं। उस समय ज़िन्दगी हमें फीकी मालूम पड़ती है, बल्कि महाशोक-ग्रस्त हो ऐसे समय हम लोग जीवन से भी हाथ धो बैठते हैं। इस तरह पर इस संसार-नाट्यशाला में उस महापुरुष के अनेक खेल हैं जिनका वह क्रीड़ा-विलसित के समान सर्वथा स्वच्छन्द हो जब जैसा चाहता है वैसा अभिनय करता है।

२—धिक्कार

[श्रीप्रेमचन्द]

१

ईरान और यूनान में घोर संग्राम हो रहा था। ईरानी दिन-दिन बढ़ते आते थे और यूनान के लिए सङ्कट का सामना था। देश के सारे व्यवसाय बन्द हो गये थे, हल की मुठिया

पर हाथ रखनेवाले किसान तलवार की मुठिया पकड़ने के लिए मजबूर हो गये थे, डण्डी तौलनेवाले भाले तौलते थे, प्रजा सन्न थी, सारा देश आत्म-रक्षा के लिए तैयार हो गया था। फिर भी शत्रु के क़दम दिन-दिन आगे ही बढ़ते आते थे। जिस ईरान को यूनान ने कई बार कुचल डाला था वही ईरान आज क्रोध के आवेग की भाँति सिर पर चढ़ा आता था। मर्द तो रण-क्षेत्र में सिर कटा रहे थे और स्त्रियाँ दिन-दिन की निराशा-जनक ख़बरें सुन-सुनकर सूखी जाती थीं। क्योंकर लाज की रक्षा होगी? प्राण का भय न था, सम्पत्ति का भय न था, भय था मर्याद का। विजेता जब गर्व से मतवाले हो-होकर यूनानी ललनाओं की ओर घूरेंगे, उनके कोमल अंगों को स्पर्श करेंगे, उनको क़ैद कर ले जायँगे, उस विपत्ति की कल्पना ही से इन लोगों के रोएँ खड़े हो जाते थे।

आख़िर जब हालत बहुत नाज़ुक हो गई तब कितने ही स्त्री-पुरुष मिलकर डेल्फ़ी के मन्दिर में गये और प्रश्न किया—देवी, हमारे ऊपर देवताओं की यह वक्र-दृष्टि क्यों है? हमसे ऐसा कौन-सा अपराध हुआ है? क्या हमने नियमों का पालन नहीं किया, क़ुरबानियाँ नहीं कीं, व्रत नहीं रक्खे? फिर देवताओं ने क्यों हमारे सिर पर से अपनी रक्षा का हाथ उठा लिया है?

पुजारिन ने कहा—देवताओं की असीम कृपा भी देश को द्रोही के हाथ से नहीं बचा सकती। इस देश में अवश्य कोई

न कोई द्रोही है। जब तक उसका वध न किया जायगा, देश के सिर से यह सङ्कट न टलेगा।

'देवी, वह द्रोही कौन है ?'

'जिस घर से रात को गाने की ध्वनि आती हो, जिस घर से दिन को सुगन्ध की लपटें आती हों, जिस पुरुष की आँखों में मद की लाली झलकती हो, वही देश-द्रोही है।'

लोगों ने द्रोही का परिचय पाने के लिए और भी कितने ही प्रश्न किये, पर देवी ने कोई उत्तर न दिया।

२

यूनानियों ने द्रोही की तलाश करनी शुरू की। किसके घर में से रात को गाने की आवाज़ें आती हैं ? सारे शहर में सन्ध्या होते ही स्यापा-सा छा जाता था। अगर कहीं आवाज़ें सुनाई देती थीं तो रोने की; हँसी और गाने की आवाज़ कहीं न सुनाई देती थी।

दिन को सुगन्ध की लपटें किस घर से आती हैं ? लोग जिधर जाते थे उधर से दुर्गन्धि आती थी। गलियों में कूड़े के ढेर पड़े थे। किसे इतनी फ़ुरसत थी कि घर की सफ़ाई करता, घर में सुगन्ध जलाता; धोबियों का अभाव था, अधिकांश लड़ने चले गये थे, कपड़े तक न धुलते थे, इत्र-फुलेल कौन मलता !

किसकी आँखों में मद की लाली झलकती है ? लाल आँखें दिखाई देती थीं; लेकिन यह मद की लाली न थी, यह

आँसुओं की लाली थी। मदिरा की दूकानों पर ख़ाक उड़ रही थी। इस जीवन और मृत्यु के संग्राम में विलास की किसे सूझती! लोगों ने सारा शहर छान मारा, लेकिन एक भी आँख ऐसी नज़र न आई जो मद से लाल हो।

कई दिन गुज़र गये। शहर में पल-पल पर रणक्षेत्र से भयानक ख़बरें आती थीं और लोगों के प्राण सूखे जाते थे।

आधी रात का समय था। शहर में अन्धकार छाया हुआ था, मानों श्मशान हो। किसी की सूरत न दिखाई देती थी। जिन नाट्यशालाओं में तिल रखने की जगह न मिलती थी वहाँ सियार बोल रहे थे, जिन बाज़ारों में मनचले जवान अस्त्र-शस्त्र सजाये ऐंठते फिरते थे वहाँ उल्लू बोल रहे थे, मन्दिरों में न गाना होता था, न बजाना, प्रासादों में भी अन्धकार छाया हुआ था।

एक बूढ़ा यूनानी, जिसका एकलौता लड़का लड़ाई के मैदान में था, घर से निकला और न जाने किन विचारों की तरङ्ग में देवी के मन्दिर की ओर चला। रास्ते में कहीं प्रकाश न था, क़दम-क़दम पर ठोकरें खाता था, पर आगे बढ़ता चला जाता था। उसने निश्चय कर लिया था कि या तो आज देवी से विजय का वरदान लूँगा या उनके चरणों पर अपने को भेंट कर दूँगा।

३

सहसा वह चौंक पड़ा। देवी का मन्दिर आ गया था और उसके पीछे की ओर किसी घर से मधुर संगीत की ध्वनि आ

रही थी। उसको आश्चर्य हुआ। इस निर्जन स्थान में कौन इस वक्त़ रँगरेलियाँ मना रहा है। उसके पैरों में पर से लग गये, उड़कर मन्दिर के पिछवाड़े जा पहुँचा।

उसी घर से, जिसमें मन्दिर की पुजारिन रहती थी, गाने की आवाज़ें आती थीं। वृद्ध विस्मित होकर खिड़की के सामने खड़ा हो गया। चिराग़ तले अँधेरा! देवी के मन्दिर के पिछवाड़े यह झाँकी!

बूढ़े ने द्वार से झाँका, एक सजे हुए कमरे में मोम-बत्तियाँ झाड़ों में जल रही थीं, साफ़-सुथरा फ़र्श बिछा हुआ था और एक आदमी मेज़ पर बैठा हुआ गा रहा था। मेज़ पर शराब की बोतल और प्यालियाँ रक्खी हुई थीं। दो ग़ुलाम मेज़ के सामने हाथ में भोजन के थाल लिये खड़े थे, जिनमें से मनोहर सुगन्ध की लपटें आ रही थीं।

बूढ़े यूनानी ने चिल्लाकर कहा—यही देश-द्रोही है, यही देश-द्रोही है।

मन्दिर की दीवारों ने दुहराया—द्रोही है!

बाग़ीचे की तरफ़ से आवाज़ आई—द्रोही है!

मन्दिर की पुजारिन ने घर में से सिर निकालकर कहा—हाँ, द्रोही है!

यह देश-द्रोही उसी पुजारिन का बेटा पासोनियस था। देश में रक्षा के जो उपाय सोचे जाते, शत्रु का दमन करने के लिए जो निश्चय किये जाते, उनकी सूचना ईरानियों को दे

दिया करता था। सेनाओं की प्रत्येक गति की ख़बर ईरानियों को मिल जाती थी और उसका मुक़ाबला करने के लिए, उन प्रयत्नों को विफल बनाने के लिए वे पहले से तैयार हो जाते थे। यही कारण था कि जान लड़ा देने पर भी यूनानियों को विजय-प्राप्ति न होती थी। इस देश-द्रोह के पुरस्कार में पासोनियस को मुहरों की थैलियाँ मिल जाती थीं। इसी कपट से कमाये हुए धन से वह भोग-विलास करता था, उस समय जब कि देश पर घोर सङ्कट पड़ा हुआ था उसने अपने स्वदेश को अपनी वासनाओं के लिए बेच दिया था, अपने विलास के सिवा उसे और किसी बात की चिन्ता न थी, कोई मरे या जिये—देश रहे या जाय—उसकी बला से। केवल अपने कुटिल स्वार्थ के लिए देश के पैरों में ग़ुलामी की बेड़ियाँ डलवाने पर तैयार था। पुजारिन अपने बेटे के दुष्टाचरण से अनभिज्ञ थी। वह अपनी अँधेरी कोठरी से बहुत कम निकलती थी, वहीं बैठी जप-तप किया करती थी। परलोक-चिन्तन में इहलोक की ख़बर न थी, बाहर की चेतना शून्य-सी हो रही थी। वह इस समय भी कोठरी के द्वार बन्द किये अपने देश के कल्याण के लिए, देवी की वन्दना कर रही थी कि सहसा उसके कानों में आवाज़ आई—यही द्रोही है, यही द्रोही है!

उसने तुरन्त द्वार खोलकर बाहर की ओर झाँका, पासोनियस के कमरे से प्रकाश की रेखाएँ निकल रही थीं, और

उन्हीं रेखाओं पर संगीत की लहरें नाच रही थीं। उसके पैर तले से ज़मीन-सी निकल गई, कलेजा धक-से हो गया। ईश्वर! क्या मेरा ही बेटा देश-द्रोही है!

आप ही आप, किसी अन्त:प्रेरणा से पराभूत होकर, वह चिल्ला उठी—हाँ, यही देश-द्रोही है!

४

यूनानी स्त्री-पुरुषों के झुण्ड के झुण्ड उमड़ पड़े और पासोनियस के द्वार पर खड़े होकर चिल्लाने लगे—यही देश-द्रोही है।

पासोनियस के कमरे की रोशनी ठण्डी हो गई थी; संगीत भी बन्द था, लेकिन द्वार पर प्रतिक्षण नगर-वासियों का समूह बढ़ता जाता था और रह-रहकर सहस्रों कण्ठों से ध्वनि निकलती थी—यही देश-द्रोही है।

लोगों ने मशालें जलाईं, और अपने लाठी-डण्डे सँभालकर मकान में घुस पड़े। कोई कहता था, सिर उतार लो, कोई कहता था, देवी के चरणों पर बलिदान कर दो। कुछ लोग उसे कोठे से नीचे गिरा देने का आग्रह कर रहे थे।

पासोनियस समझ गया कि अब मुसीबत की घड़ी सिर पर आ गई। तुरन्त ज़ीने से उतरकर नीचे की ओर भागा और कहीं शरण की आशा न देखकर देवी के मन्दिर में जा घुसा।

अब क्या किया जाय ? देवी के शरण जानेवाले को अभय-दान मिल जाता था। परम्परा से यही प्रथा थी। मन्दिर में किसी की हत्या करना पाप था।

लेकिन देश-द्रोही को इतने सस्ते कौन छोड़ता। भाँति-भाँति के प्रस्ताव होने लगे—

'सूअर के हाथ पकड़कर बाहर खींच लो।'

'ऐसे देश-द्रोही का वध करने के लिए देवी हमें क्षमा कर देंगी।'

'देवी आप उसे क्यों नहीं निगल जातीं ?'

'पत्थरों से मारो, पत्थरों से, आप निकलकर भागेगा।'

'निकलता क्यों नहीं रे कायर ! वहाँ क्या मुँह में कालिख लगाकर बैठा हुआ है।'

रात भर यही शोर मचा रहा और पासोनियस न निकला ! आख़िर यह निश्चय हुआ कि मन्दिर की छत खोदकर फेंक दी जाय और पासोनियस दोपहर की तेज़ धूप और रात की कड़ाके की सरदी में आप ही अकड़ जाय। बस, फिर क्या था ! आन की आन में लोगों ने मन्दिर के छत और कलस ढा दिये।

अभागा पासोनियस दिन भर तेज़ धूप में खड़ा रहा। उसे ज़ोर की प्यास लगी लेकिन पानी कहाँ ? भूख लगी पर खाना कहाँ ? सारी ज़मीन तवे की भाँति जलने लगी लेकिन छाँह कहाँ ? इतना कष्ट उसे जीवन भर में न हुआ था।

मछली की भाँति तड़पता था और चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को पुकारता था मगर वहाँ कोई उसकी पुकार सुननेवाला न था। बार-बार क़समें खाता था कि अब फिर मुझसे ऐसा अपराध न होगा लेकिन कोई उसके निकट न आता था। बार-बार जी चाहता था कि दीवार से सिर टकराकर प्राण दे दूँ लेकिन यह आशा रोक देती थी कि शायद लोगों को मुझ पर दया आ जाय। वह पागलों की तरह ज़ोर-ज़ोर से कहने लगा—मुझे मार डालो, मार डालो; एक क्षण में प्राण ले लो; इस भाँति जला-जलाकर न मारो; ओ हत्यारो, तुमको ज़रा भी दया नहीं!

दिन बीता और रात, भयङ्कर रात, आई। ऊपर तारा-गण चमक रहे थे, मानों उसकी विपत्ति पर हँस रहे हों। ज्यों-ज्यों रात भीगती थी, देवी विकराल रूप धारण करती जाती थी। कभी वह उसकी ओर मुँह खोलकर लपकती, कभी उसे जलती हुई आँखों से देखती। उधर क्षण-क्षण सर्दी बढ़ती जाती थी। पासोनियस के हाथ-पाँव अकड़ने लगे, कलेजा काँपने लगा, घुटनों में सिर रखकर बैठ गया और अपनी क़िस्मत को रोने लगा; कुरते को खींचकर कभी पैरों को छिपाता, कभी हाथों को, यहाँ तक कि इस खींचा-तानी में कुरता भी फट गया। आधी रात जाते-जाते बर्फ़ गिरने लगी। दोपहर को उसने सोचा था कि गरमी ही सबसे अधिक कष्टदायक है, अब इस ठण्ड के सामने उसे गरमी की तकलीफ़ भूल गई।

आख़िर शरीर में गरमी लाने के लिए उसे एक हिकमत सूझी। वह मन्दिर में इधर-उधर दौड़ने लगा, लेकिन विलासी जीव था, ज़रा देर में हाँपकर गिर पड़ा।

५

प्रातःकाल लोगों ने किवाड़ खोले तो पासोनियस को भूमि पर पड़े देखा। मालूम होता था, उसका शरीर अकड़ गया है। बहुत चीख़ने-चिल्लाने पर उसने आँखें खोलीं पर जगह से हिल न सका। कितनी दयनीय दशा थी, किन्तु किसी को उस पर दया न आई। यूनान में देश-द्रोह सबसे बड़ा अपराध था और द्रोही के लिए कहीं क्षमा न थी, कहीं दया न थी।

एक—अभी मरा नहीं है।

दूसरा—द्रोहियों को मौत नहीं आती।

तीसरा—पड़ा रहने दो, मर जायगा।

चौथा—मकर किये हुए है।

पाँचवाँ—अपने किये की सज़ा पा चुका, अब छोड़ देना चाहिए।

सहसा पासोनियस उठ बैठा और उद्दण्ड भाव से बोला—कौन कहता है कि इसे छोड़ देना चाहिए! नहीं, मुझे मत छोड़ना वरना पछताओगे, मैं स्वार्थी हूँ, विषय-भोगी हूँ, मुझ पर भूलकर भी विश्वास न करना। आह! मेरे कारण तुम

लोगों को क्या-क्या झेलना पड़ा। इसे सोचकर मेरा जी चाहता है कि अपनी इन्द्रियों को जलाकर भस्म कर दूँ। मैं अगर सौ बार जन्म लेकर इस पाप का प्रायश्चित्त करूँ तो भी मेरा उद्धार न होगा। तुम भूलकर भी मेरा विश्वास न करो। मुझे स्वयं अपने ऊपर विश्वास नहीं। विलास के प्रेमी सत्य का पालन नहीं कर सकते। मैं अब भी आपकी कुछ सेवा कर सकता हूँ, मुझे ऐसे-ऐसे गुप्त रहस्य मालूम हैं जिन्हें जानकर आप ईरानियों का संहार कर सकते हैं। लेकिन मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है और आपसे भी यही कहता हूँ कि मुझ पर विश्वास न कीजिए।

आज रात को देवी की मैंने सच्चे दिल से वन्दना की है और उन्होंने मुझे ऐसे यन्त्र बताये हैं जिससे हम शत्रुओं का संहार कर सकते हैं, ईरानियों के बढ़ते हुए दल को आज भी आन की आन में उड़ा सकते हैं। लेकिन मुझे अपने पर विश्वास नहीं है, मैं यहाँ से बाहर निकलकर इन बातों को भूल जाऊँगा। सम्भव है कि फिर ईरानियों की गुप्त सहायता करने लगूँ। इसलिए मुझ पर विश्वास न कीजिए।

एक यूनानी—देखो, देखो, क्या कहता है।

दूसरा—सच्चा आदमी मालूम होता है।

तीसरा—अपने अपराधों को आप स्वीकार करता है।

चौथा—इसे क्षमा कर देना चाहिए, और वह सब बातें पूछ लेनी चाहिएँ।

पाँचवाँ—देखो, यह नहीं कहता कि मुझे छोड़ दो, हमको बार-बार याद दिलाये जाता है कि मुझ पर विश्वास न करो।

छठवाँ—रात भर के कष्ट ने होश ठण्डे कर दिये, अब आँखें खुली हैं।

पासोनियस—क्या तुम लोग मुझे छोड़ने की बातचीत कर रहे हो? मैं फिर कहता हूँ, मैं विश्वास के योग्य नहीं हूँ। मैं द्रोही हूँ। मुझे ईरानियों के बहुत से भेद मालूम हैं, एक बार उनकी सेना में पहुँच जाऊँ तो उनका मित्र बनकर सर्वनाश कर दूँ, पर मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है।

एक यूनानी—धोखेबाज़ इतनी सच्ची बात नहीं कह सकता।

दूसरा—पहले स्वार्थान्ध हो गया था, पर अब आँखें खुली हैं।

तीसरा—देश-द्रोही से भी अपने मतलब की बातें मालूम कर लेने में कोई हानि नहीं है। अगर यह अपने वचन पूरे करे तो हमें इसे छोड़ देना चाहिए।

चौथा—देवी की प्रेरणा से इसकी यह काया-पलट हुई है।

पाँचवाँ—पापियों में भी आत्मा का प्रकाश रहता है और कष्ट पाकर जाग्रत् हो जाता है। यह समझना कि जिसने एक बार पाप किया वह फिर पुण्य कर ही नहीं सकता, मानव-चरित्र के एक प्रधान तत्त्व का अपवाद करना है।

छठवाँ—हम इसको यहाँ से गाते-बजाते ले चलेंगे।

जनसमूह को चकमा देना कितना आसान है। जनसत्तावाद का सबसे निर्बल अङ्ग यही है। जनता को नेक और बद की तमीज़ नहीं रहती; उस पर धूर्तों, रँगे सियारों का जादू आसानी से चल जाता है। अभी एक दिन पहले लोग जिस पासोनियस की बोटियाँ नोच लेने पर आमादा थे उसी पासोनियस को जलूस के साथ मन्दिर से निकालने की तैयारियाँ होने लगीं। क्योंकि वह धूर्त था और जानता था कि जनता की कील क्योंकर घुमाई जा सकती है।

एक स्त्री ने कहा—गाने-बजानेवालों को बुलाओ, पासोनियस शरीफ़ है।

दूसरी—हाँ, हाँ, पहले चलकर उससे क्षमा माँगो, हमने उसके साथ ज़रूरत से ज़्यादा सख़्ती की है।

पासोनियस—आप लोगों ने पूछा होता तो मैं कल ही सारी बातें आपको बता देता, तब आपको मालूम होता कि मुझे मार डालना उचित है या जीता रखना।

कई स्त्री-पुरुष—हाय हाय! हमसे बड़ी भूल हुई, हमारे सच्चे पासोनियस!

सहसा एक वृद्धा स्त्री किसी तरफ़ से दौड़ती हुई आई और मन्दिर के सबसे ऊँचे ज़ीने पर खड़ी होकर बोली—तुम लोगों को क्या हो गया है? यूनान के बेटे आज इतने ज्ञान-शून्य हो गये हैं कि झूठे और सच्चे में विवेक नहीं कर सकते! तुम पासोनियस पर विश्वास करते हो? जिस पासोनियस

ने सैकड़ों स्त्रियों और बालकों को अनाथ कर दिया, सैकड़ों घरों में कोई दिया जलानेवाला न छोड़ा; हमारे देवताओं का, हमारे पुरुषों का, घोर अपमान किया उसकी दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातों पर तुम इतने फूल उठे! याद रक्खो अबकी पासोनियस बाहर निकला तो फिर तुम्हारी कुशल नहीं, यूनान पर ईरान का राज्य होगा और यूनानी ललनाएँ ईरानियों की कुदृष्टि का शिकार बनेंगी। देवी की आज्ञा है, पासोनियस फिर बाहर न निकलने पावे। अगर तुम्हें अपना देश प्यारा है, अपने पुरुषों का नाम प्यारा है, अपनी माताओं और बहनों की आबरू प्यारी है तो मन्दिर के द्वारा को चुन दो जिसमें इस देश-द्रोही को फिर बाहर निकलने और तुम लोगों के बहकाने का मौक़ा न मिले। यह देखो, पहला पत्थर मैं अपने हाथों से रखती हूँ।

लोगों ने विस्मित होकर देखा—यह मन्दिर की पुजारिन और पासोनियस की माता थी।

दम के दम में पत्थरों के ढेर लग गये और मन्दिर का द्वार चुन दिया गया। पासोनियस भीतर दाँत पीसता रह गया।

वीर माता, तुम्हें धन्य है! ऐसी ही माताओं से देश का मुख उज्ज्वल होता है जो देश-हित के सामने मातृस्नेह की धूलि बराबर भी परवा नहीं करतीं; उनके पुत्र देश के लिए होते हैं, देश पुत्र के लिए नहीं होता।

३—फ़ा-हियान की भारत-यात्रा

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

प्राचीन भारत के इतिहास का थोड़ा-बहुत पता जो हमें लगता है वह ग्रीक और चीनी यात्रियों के यात्रा-वृत्तान्त से लगता है। ग्रीकवाले इस देश में सैनिक, शासक, अथवा राजदूत बनकर आते थे। इसी से उनके लेखों में अधिकतर भारतीय राजनीति, शासन-पद्धति और भौगोलिक बातों ही का उल्लेख है। उन्होंने भारतीय धर्म और शास्त्रों की छान-बीन करने की विशेष परवा नहीं की। चीनी यात्रियों का कुछ और ही उद्देश था, वे विद्वान् थे। उन्होंने हज़ारों मीलों की यात्रा इसलिए की थी कि वे बौद्धों के पवित्र स्थानों का दर्शन करें, बौद्ध-धर्म की पुस्तकें एकत्र करें और उस भाषा को पढ़ें जिसमें वे पुस्तकें लिखी गई थीं। इन यात्राओं में उनको नाना प्रकार के शारीरिक क्लेश सहने पड़े, कभी वे लूटे गये, कभी वे रास्ता भूलकर भयङ्कर स्थानों में भटकते फिरे और कभी उन्हें जङ्गली जानवरों का सामना करना पड़ा। परन्तु इतना सब होने पर भी वे केवल विद्या और धर्म-प्रेम के कारण भारतवर्ष में घूमते रहे। चीनी यात्रियों में तीन के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं—पहला फ़ा-हियान, दूसरा संगयान और तीसरा हुनसाँग। इन तीनों ने अपनी-अपनी यात्रा का वृत्तान्त लिखा है। उसका अनुवाद अँगरेज़ी, फ्रेंच आदि यूरप की भाषाओं में हो गया

है। इनसे भारतीय सभ्यता का बहुत कुछ पता चलता है। प्रसिद्ध चीनी यात्रियों में फ़ा-हियान सबसे पहले भारत में आया। इसी की यात्रा का संक्षिप्त हाल यहाँ लिखा जाता है। फ़ा-हियान मध्य-चीन का निवासी था। ४०० ई० में वह अपने देश से भारत-यात्रा के लिए निकला। इस यात्रा से उसका मतलब बौद्ध-तीर्थों के दर्शन और बौद्ध-धर्म की पुस्तकों का संग्रह करना था। उन दिनों चीन से भारतवर्ष आने को दो रास्ते थे। एक रास्ता ख़ुतन नगर के पश्चिम से होता हुआ भारतीय सीमा पर पहुँचता था। यह रास्ता कुछ चक्कर का था। इसी से भारत और चीन के मध्य व्यापार होता था। दूसरा रास्ता जलद्वारा जावा और लङ्का के टापुओं से होकर था। यह रास्ता पहले से सीधा तो था, परन्तु पीत समुद्र के तूफ़ानों ने इस सुगम जलमार्ग को बड़ा भयानक बना रक्खा था। फ़ा-हियान निडर मनुष्य था। वह भारत आया तो ख़ुतन के रास्ते ही से, परन्तु स्वदेश को लौटा लङ्का और जावा के रास्ते। फ़ा-हियान के साथ और भी कितने ही मुसाफ़िर थे। ख़ुतन पहुँचने के लिए लाय नामक जङ्गल से होकर जाना पड़ता था। इस जङ्गल में यात्रियों को बड़ा कष्ट सहना पड़ता, कोसों पानी न मिलता। सूर्य्य की गरमी ने और भी ग़ज़ब ढाया। प्यास के मारे यात्रियों का बुरा हाल हुआ। समय-समय पर रास्ता भूल जाने के कारण भी उन पर बड़ी विपत्ति पड़ी। जब वे किसी तरह

लाय नामक झील के किनारे पहुँचे तब उनकी बड़ी बुरी दशा थी। कितने ही यात्रियों के छक्के छूट गये और उन्होंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। पर फ़ा-हियान ने हिम्मत न हारी। वह दो-चार मित्रों-सहित आगे बढ़ा और नाना प्रकार के कष्टों को सहता हुआ दो मास में ख़ुतन पहुँचा। लोगों ने ख़ुतन में उनका अच्छा आदर-सत्कार किया। उस समय ख़ुतन एक हरा-भरा बौद्ध-राज्य था, इस समय ख़ुतन उजड़ा पड़ा है। पर हाल ही में, डाक्टर स्टीन ने उसकी पूर्व समृद्धि के बहुत से चिह्न पाये हैं। प्राचीन महलों, स्तूपों, विहारों और बाग़ों के न मालूम कितने चिह्न उन्हें मिले हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है, जो बड़े महत्त्व की है। ख़ुतन से फ़ा-हियान काबुल आया। उस समय काबुल उत्तरीय भारत के अन्तर्गत था। काबुल से वह स्वात, गान्धार और तक्षशिला होता हुआ पेशावर पहुँचा। पेशावर में उसने एक बड़ा ऊँचा, सुन्दर और मज़बूत बौद्ध-स्तूप देखा। सिन्धु नदी पार करके वह मथुरा आया। मथुरा का हाल वह इस प्रकार वर्णन करता है—मथुरा में यमुना के दोनों किनारे पर बीस संघाराम हैं, जिनमें लगभग ३००० साधु रहते हैं। बौद्ध-धर्म का ख़ूब प्रचार है। राजपूताना के राजा बौद्ध हैं। दक्षिण की ओर जो देश है वह मध्य-देश कहलाता है। इस देश का जल-वायु न बहुत उष्ण है, न बहुत शीतल। बर्फ़ अथवा कुहरे की अधिकता नहीं है। प्रजा सुखी है। उन्हें अधिक

कर नहीं देना पड़ता। शासक लोग कठोरता नहीं करते। जो लोग भूमि जोतते और बोते हैं उन्हें अपनी पैदावार का एक निश्चित भाग राजा को देना पड़ता है। लोग अपनी इच्छा के अनुसार चाहे जहाँ आ-जा सकते हैं। अपराधी को उसके अपराध के गौरव-लाघव के अनुसार भारी अथवा हलका दण्ड दिया जाता है। राजा के शरीर-रक्षकों को नियत वेतन मिलता है। देश भर में जीव-हत्या नहीं होती। चाण्डालों के अतिरिक्त कोई मद्यपान नहीं करता और न कोई लहसुन और प्याज़ ही खाता है। इस देश में कोई न तो मुर्ग़ी ही पालता है और न बतख़ ही। पालतू पशु भी कोई नहीं बेचता। बाज़ारों में पशु-वध-शालाएँ अथवा मांस बेचने की दुकानें नहीं हैं। सौदा-सुलफ में कौड़ियों का व्यवहार होता है। केवल चाण्डाल ही पशु-वध करते और मांस बेचते हैं। बुद्ध भगवान् के समय से यहाँ की यह प्रथा है कि राजा, महा-राजा, अमीर, उमराव और बड़े आदमी विहार-निर्माण करते हैं और उनके ख़र्च के लिए भूमि इत्यादि का दान-पत्र लिख देते हैं। पीढ़ियाँ गुज़र जाती हैं, वे विहार ज्यों के त्यों विद्यमान रहते हैं। उनका ख़र्च दान दी हुई भूमि की आमदनी से चलता रहता है। उस भूमि को कोई नहीं छीनता। विहारों में रहनेवाले साधुओं को वस्त्र, भोजन और बिछौना मुफ़्त मिलता है।

मथुरा से फ़ा-हियान कन्नौज आया। वह नगर, उस समय, गुप्त राजाओं की राजधानी थी। उसने कन्नौज के

विषय में इसके सिवा और कुछ नहीं लिखा कि वहाँ सङ्घा-राम थे। कोशल राज्य की प्राचीन राजधानी श्रावस्ती उजाड़ पड़ी थी। उसमें केवल दो सौ कुटुम्ब निवास करते थे। जैतवन, जहाँ भगवान् बुद्ध ने धर्मोपदेश किया था, विहार के पास एक तालाब था, जिसका जल बहुत निर्मल था। कई बाग़ भी थे, जिनसे विहार की शोभा बहुत बढ़ गई थी। विहार में रहनेवाले साधुओं ने फ़ा-हियान का हर्ष-पूर्वक स्वागत किया और उसकी इस कारण बहुत बड़ाई की कि उसने यात्रा धर्म-प्रेम के वशीभूत होकर की थी। भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान कपिल-वस्तु की दशा फ़ा-हियान के समय में बुरी थी। वहाँ न कोई राजा था, न प्रजा। नगर प्रायः उजाड़ था। केवल थोड़े-थोड़े साधु और दस-बीस अन्य जन वहाँ थे। कुशीनगर भी, जहाँ भगवान् बुद्ध की मृत्यु हुई थी, बुरी दशा में था। उस वैशाली नगर को, जहाँ बौद्धधर्म की पुस्तक संग्रह करने के लिए बौद्धों का दूसरा सम्मेलन हुआ था, फ़ा-हियान ने अच्छी दशा में पाया। प्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर के विषय में फ़ा-हियान ने लिखा है कि उसका पुराना राजमहल बड़ा विचित्र है। उसके बनाने में बड़े-बड़े पत्थरों से काम लिया गया है। मनुष्यों के हाथों से वह न बना होगा। बिना आसुरी शक्ति के कौन इतने बड़े-बड़े पत्थर ऊपर चढ़ा सका होगा। अवश्य अशोक ने उसे असुरों-द्वारा बनवाया होगा। फ़ा-हियान का कथन है

कि अशोक के स्तूप के समीप ही एक सुन्दर सङ्घाराम बना हुआ है, जिसमें लगभग छः-सात सौ साधु रहते हैं। प्रति वर्ष दूसरे महीने के आठवें दिन वहाँ एक उत्सव होता है। उस अवसर पर चार पहिये का एक रथ बनाया जाता है। उस रथ के ऊपर पाँच खण्ड का एक मन्दिर रक्खा जाता है। मन्दिर बाँसों का बनता है। उसके बीच में सात-आठ गज़ लम्बा एक बाँस रहता है। वही उसे साधे रहता है। मन्दिर श्वेत वस्त्र से मढ़ दिया जाता है। पर उसका पिछला भाग चटकीले रङ्गों से रँगा रहता है। सुन्दर रेशम के शामियानों के नीचे देव-मूर्त्तियाँ वस्त्राभूषण से सजा रक्खी जाती हैं। इस प्रकार के कोई बीस रथ तैयार किये जाते हैं। उत्सव के दिन बड़ी भीड़ होती है। खेल-तमाशे होते हैं और मूर्त्तियों पर फूल आदि चढ़ाये जाते हैं। उस दिन बौद्ध लोग नगर में प्रवेश करते हैं। वहीं वे ठहरते हैं और सारी रात हर्ष मनाते हैं। इस अवसर पर दूर-दूर से लोग आते और उत्सव में सम्मिलित होते हैं। धनवान् लोगों ने नगर में कितने ही औषधालय खोल रक्खे हैं जहाँ दीन, दुखिया, लँगड़े-लूले और अन्य असमर्थ जनों का इलाज होता है। उनको हर प्रकार की सहायता दी जाती है। वैद्य उनके रोगों की परीक्षा करके औषधि-सेवन कराते हैं। वे वहीं रहते हैं। पथ्य भी उन्हें वहीं मिलता है। नीरोग हो जाने पर वे अपने घर चले जाते हैं।

राजगृह में पहला बौद्ध-सम्मेलन हुआ था, इसलिए उसे देखता हुआ फ़ा-हियान गया पहुँचा। गया में उसने बोधि-वृक्ष और अन्य पवित्र स्थानों के दर्शन किये। वह काशी-कौशाम्बी भी गया। काशी में उस स्थान पर, जहाँ भगवान् बुद्ध ने पहली बार सत्य का उपदेश दिया था, दो सङ्घाराम थे। काशी से वह फिर पाटलिपुत्र लौट गया। फ़ा-हियान चीन से धार्मिक पुस्तकों की खोज में चला था। पाटलिपुत्र में विनयपिटक की एक प्रति उसके हाथ लग गई। पुस्तक लेकर वह अङ्गदेश की राजधानी चम्पा होता हुआ ताम्रलिप्ति (तमलुक) पहुँचा। वहाँ उसने बौद्धधर्म का अच्छा प्रचार देखा। उस नगर में २४ सङ्घाराम थे। फ़ा-हियान वहाँ दो वर्ष तक रहा। यह समय उसने धर्म-पुस्तकों की नक़ल करने में ख़र्च किया। तत्पश्चात् जहाज़ पर सवार होकर लगातार १४ दिन और यात्रा करके वह सिंघलद्वीप पहुँचा। वहाँ से वह अनिरुद्धपुर गया। बौद्धस्तूप और बुद्ध-वृक्ष के भी उसने दर्शन किये। लङ्का में उसने कुछ और भी धर्म-पुस्तकों का संग्रह किया। लङ्का का वर्णन वह इस प्रकार करता है—

"लङ्का में पहले बहुत कम मनुष्य रहते थे। धीरे-धीरे व्यापारी लोग यहाँ आने लगे। अन्त में वही यहाँ बस गये। इस प्रकार यहाँ की आबादी बढ़ी और राज्य की नींव पड़ी। यहाँ भगवान् बुद्ध आये*। उन्होंने यहाँ के निवासियों को

---

* भगवान् बुद्ध लङ्का कभी नहीं गये।

बौद्ध बनाया। लङ्का का जल-वायु अच्छा है। सब्ज़ी बहुत होती है। राजधानी के उत्तर में बड़ा ऊँचा स्तूप है। समीप ही एक सङ्घाराम भी है जिसमें ५००० साधु रहते हैं।"

फ़ा-हियान लङ्का में दो वर्ष रहा। उसे स्वदेश छोड़े बहुत वर्ष हो गये थे, इससे उसने चीन लौट जाने का विचार किया। उसी समय एक व्यापारी ने उसे चीन का बना हुआ एक पङ्खा भेंट किया। अपने देश की बनी हुई वस्तु देखकर फ़ा-हियान का जी भर आया। उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली। अन्त में उसे स्वदेश लौट जाने का एक साधन भी प्राप्त हो गया। एक जहाज़ दो सौ यात्रियों-सहित उस ओर जाता था। वह भी उसी पर बैठ गया। जहाज़ को हलका करने के लिए खलासी जहाज़ पर लदी हुई चीज़ों को समुद्र में फेंकने लगे। बहुत माल-असबाब फेंक दिया गया। फ़ा-हियान ने अपने सारे बर्त्तन तक समुद्र में इस डर के मारे फेंक दिये कि कहीं उनके मोह में पड़ने के कारण लोग उसकी अमूल्य पुस्तकें और मूर्त्तियाँ समुद्र के हवाले न कर दें। तेरह दिन की कठिन तपस्या के बाद एक छोटा-सा टापू मिला, जहाँ जहाज़ की मरम्मत हुई। सैकड़ों कष्ट सहने पर ६० दिन बाद जहाज़ जावा द्वीप में पहुँचा। जावा में उस समय बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म, दोनों का प्रचार था।

फ़ा-हियान जावा में पाँच महीने रहा। तत्पश्चात् वह एक और जहाज़ पर सवार हुआ। चलने के एक महीने

बाद इस जहाज़ का भी कील-काँटा बिगड़ा। यह देखकर मल्लाहों ने सलाह की कि जहाज़ पर शर्मण फ़ा-हियान के होने ही के कारण हम पर विपत्ति आई है। अतएव कोई टापू मिले तो इसे यहाँ उतार दें, जिसमें जहाज़ की यात्रा निर्विघ्न समाप्त हो। यह वहाँ चाहे मरे चाहे बचे। इस जहाज़ के यात्रियों में एक व्यापारी बड़ा सज्जन था। वह फ़ा-हियान से प्रेम करने लगा था। उसने मल्लाहों की इस सलाह का घोर प्रतिवाद किया। इसी के कारण बेचारा फ़ा-हियान किसी निर्जन टापू में छोड़ दिये जाने से बच गया। ८२ दिन की यात्रा के बाद दक्षिणी चीन के समुद्र-तट पर वह सकुशल उतर गया और अपने को कृत-कृत्य माना।

४—स्पेन में

[गिरीशचन्द्र]

एशियाई पर्यटक को जितना सुख और आनन्द स्पेन के भ्रमण में मिल सकता है उतना योरप के किसी दूसरे देश में नहीं मिल सकता। इसका मुख्य कारण यह है कि स्पेन में एशिया की छटा पद-पद पर देखने को मिलती है। क्या वहाँ की इमारतें, क्या लोगों का रहन-सहन और क्या उनका रीति-व्यवहार, प्रायः सभी बातों में एशिया का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य देखने को मिलेगा। वर्तमान विज्ञान-युग का

जो कुछ प्रभाव स्पेन पर पड़ा वह वहाँ के बड़े-बड़े नगरों पर। ऐसे नगरों में फ़्रांस आदि देशों के ढङ्ग पर बाज़ार और कार-ख़ाने खुल चुके हैं और तद्रूप व्यावसायिक प्रवृत्ति भी लोगों में जागृत हो चुकी है, तो भी सबका सब स्पेन पाश्चात्य सभ्यता का शिकार अभी तक नहीं हुआ है। वहाँ के छोटे-छोटे नगरों के अधिवासियों की जीवन-चर्या निरीक्षण करने से इस कथन का प्रत्यक्ष प्रमाण आप ही आप मिल जाता है। भारत की भाँति स्पेन भी प्राचीनता का प्रेमी है।

स्पेन अफ़्रीका को योरप से जोड़ता है। वह अफ़्रीका के बहुत ही निकट स्थित है। कहा जाता है कि स्पेनवाले योरपीय पिता और हबशी माता की सन्तान हैं। इस कथन में बहुत कुछ तथ्य है, क्योंकि स्पेनवासियों की शारीरिक गठन तथा स्वभाव में उत्तरी अफ़्रीका के बर्बर लोगों का प्रभाव परि-लक्षित होता है। इसी से ये लोग प्राच्य जातियों से कुछ बातों में अधिक मेल खाते हैं और यह मेल और भी अधिक रूप में वहाँ की स्त्रियों में पाया जाता है। हमारे देश-वासियों की तरह ये लोग भी भड़कीली और रङ्गीन पोशाक पहनने के लिए शौक़ीन तथा पारस्परिक व्यवहार में मिलनसार होते हैं।

स्पेन पर एशिया की छाप मुसलमान विजेताओं ने लगाई है। इसे जीतकर उन्होंने यहाँ कोई आठ सौ वर्ष तक राज्य किया है। उत्तरी अफ़्रीका के समुद्री किनारों को जीतते और उनके निवासियों को मुसलमान बनाते हुए अरब के मुसलमान

विजेता मरक्को तक जा धमके और सन् ७११ में जिब्राल्टर का मुहाना पार कर उन्होंने स्पेन पर चढ़ाई कर दी। दो वर्ष के भीतर ही सारा स्पेन उनके अधिकार में चला गया। वे लोग सन् १४९२ तक वहाँ बने रहे। इस दीर्घ काल में स्पेन-वासियों पर मुसलमानी सभ्यता का बहुत भारी प्रभाव पड़ा। यही कारण है जो आज भी हमें वहाँ की प्रायः प्रत्येक बात में प्राच्य की मुहर अङ्कित देख पड़ती है।

स्पेन में मुसलमानों का अधिकार हो जाने से वहाँ एक नये जीवन का सञ्चार हुआ। आक्रमणकारी नये धर्म की दीक्षा से अधिक भावपूर्ण हो गये थे। अतएव स्पेन में आकर उन्होंने उसकी उत्कृष्ट बातों को ग्रहण किया और उन्हें नये साँचे में ढालकर अधिक विकसित कर दिया। कला, विज्ञान, उद्यम, आविष्कार आदि बातों में उन्होंने बड़ी उन्नति की। अपनी प्रजा को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर उन्होंने अपने औदार्य का परिचय दिया। इसी से स्पेन में मुसलमानों का शासन-काल स्वर्णयुग कहलाता है।

स्पेन से मुसलमानों को निकले चार सौ वर्ष हो गये। तब से वहाँ ईसाई-सत्ता का एकाधिपत्य है। तो भी अभी मुसलमानों का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। वहाँ की पुरानी इमारतों और बाग़ों में उसका प्रत्यक्ष रूप देख पड़ता है। मुसलमानों के बसाये हुए नगर बाग़ीचों और जलाशयों से परिपूर्ण रहते थे। यद्यपि अब उनमें अधिकांश विनष्ट हो

गये हैं, तो भी जो बाग़ और इमारतें अथवा उनके ध्वंसावशेष मौजूद हैं उनको देखने से हमें स्पेन में मुसलमानों के गौरव का पूर्ण परिचय मिल जाता है। करडोवा और ग्रनाडा उनकी सभ्यता के केन्द्र थे। स्पेन जाकर कोई भी यात्री बिना इनका पर्यटन किये नहीं लौटता। ग्रनाडा का अलहम्ब्रा नामक राजभवन और उसके चारों ओर का अलमिदा नामक उपवन तथा वहाँ का जेनातल अरीफ़ नामक बाग़ संसार की अप्रतिम वस्तुओं में है।

अलहम्ब्रा मुसलमानों की कला का एक उत्कृष्ट नमूना है। बार-बार के भूकम्पों से ग्रनाडा की बहुतेरी आधुनिक इमारतें धराशायी हो गईं, पर अलहम्ब्रा अपने स्थान पर अभी तक ज्यों का त्यों खड़ा है। वह लाल पत्थर का बना है। उसकी रक्त-प्रभा उसके निर्माताओं की अभिरुचि और उनके कला-नैपुण्य का ज्ञान, आज तक प्रकट करती आ रही है। अल-हम्ब्रा की पच्चीकारी अपनी चमक-दमक अब तक बनाये रख-कर अपनी सच्ची कारीगरी का परिचय प्रदान करती है। इस समय भी दर्शक उसे असली पत्थरों का काम समझकर धोखा खा जाते हैं। उजाड़खण्ड के बीच में एक-मात्र इस चम-चमाते हुए राजमहल में पदार्पण करते ही दर्शक के ध्यान में यह बात आती है कि इस स्थान में देवता निवास करते रहे होंगे। इसकी रचना विश्वकर्मा ने की होगी। निस्सन्देह इसका अव-लोकन करने पर सहस्त्ररजनी-चरित्र की बातें सच प्रतीत होने

लगती हैं। अलहम्ब्रा मुसलमानी क्षमता और प्रतिभा का संसार में एक देदीप्यमान रत्न है।

ग्रनाडा की तरह करडोवा भी स्पेन में मुसलमानी सभ्यता का केन्द्र था। यह वहाँ के ख़लीफ़ाओं की राजधानी था। परन्तु समय ने इस नगर को ऐसा ध्वंस कर दिया है कि यह अब अपने प्राचीन गौरव का कोई पुष्ट प्रमाण उपस्थित करने में समर्थ नहीं है। यहाँ पहुँचकर यात्री केवल मेज़कीटा नामक मसजिद का दर्शन कर सन्तोष करते हैं। परन्तु जब इस स्थान से यहाँ के ख़लीफ़ा सारे स्पेन पर अपना शासन-दण्ड परिचालित करते थे तब यह नगर स्पेन के नगरों का मुकुट गिना जाता था। इसके उस गौरव की स्मृति के लिए अब यहाँ मेज़कीटा ही शेष रह गई है। परन्तु ग्रनाडा के अलहम्ब्रा की भाँति यह मसजिद भी शिल्प-कला का एक अप्रतिम नमूना है। जैसी भव्य कारीगरी का स्वरूप यह उपासना-मन्दिर दर्शक के सामने उपस्थित करता है वैसा दृश्य ग्रनाडा के राजप्रासाद में भी देखने को नहीं मिलता। इसके लम्बे-चौड़े प्राङ्गण में, नारङ्गियों के सघन कुञ्जों में, जिस मनोहर और भव्य शान्ति का अनुभव होता है उससे दर्शक को तत्काल प्राच्य देशों की स्मृति हो जाती है। यहाँ के प्रसिद्ध अलमिदा फ़व्वारे में स्त्री-पुरुषों को जल भरते देखकर भारत के पनघटों की सुध आ जाती है।

स्पेन का टोलेडो नगर भी अपने ढङ्ग का एक ही है। स्पेनी नगरों की भाँति यह भी एक ऊँची पहाड़ी पर घोड़े की

नाल के आकार में बसा है। जिस दशा में इसे मुसलमान शासक छोड़ गये हैं उसी रूप में यह आज भी देख पड़ता है। अरबी और ईसाई-सभ्यता का यह नगर केन्द्र रहा है। यहाँ गली-गली गिरजा-घर देखकर भारत की काशी नगरी की याद आ जाती है। यहाँ की अधिकांश इमारतों में अरबी और ईसाई शिल्प-कला का सम्मिश्रण हो गया है, तथापि पुराने ज़माने के दो-एक गिरजा और मसजिदें भी अपनी-अपनी कला के नमूने के रूप में यहाँ खड़ी हैं। प्रायः सभी मसजिदें गिरजा-घर बना डाली गई हैं। केवल एक मसजिद शेष रह गई जो गिरजा-घर में परिणत हो जाने से बच रही है।

उपर्युक्त नगर मुसलमानी सभ्यता के निदर्शक हैं। पुरा-तत्त्वप्रेमी यात्री इन नगरों का परिदर्शन अवश्य करता है। परन्तु जो यात्री स्पेनवासियों के गुण-दोष जानने की इच्छा रखता हो उसे सेविली में कुछ दिन तक ठहरना पड़ेगा।

सेविली न तो करडोवा की तरह शान्ति के भाव में मग्न है, न टोलेडो की तरह अपने कँगूरों और बुर्ज़ों से अपनी अजेयता का दर्प प्रकट करता है और न ग्रनाडा के सदृश अपने ध्वंसावशेषों से शोक-सन्तप्त देख पड़ता है। इस नगर में सजीवता का राज्य है। क्या सूर्य के प्रकाश में और क्या रात्रि के अन्धकार में, सभी समय और सर्वत्र, यहाँ स्पेन की जीवन-कलिका विकसित ही देख पड़ती है। यह नगर व्यापार की मण्डी है। इस कारण भी इसकी नदी के किनारे ख़ासी

चहल पहल रहती है। सुन्दरता में स्पेन का कोई नगर इसका मुक़ाबिला नहीं कर सकता। कहावत है कि सेविली में उसी का जन्म होता है जिस पर ईश्वर का विशेष अनुग्रह होता है। वास्तव में यह नगर आनन्द की प्रतिमूर्त्ति है। क्या नदी के किनारे नारङ्गो के सघन कुञ्जों में और क्या बीच बाज़ार में सर्वत्र प्रसन्नता फूटी-सी पड़ती है। जिधर देखो उधर आबाल-वृद्ध-वनिता सभी हँसते हुए आते-जाते रहते हैं।

सेविली में क्या अमीर और क्या ग़रीब सभी के घर छायादार प्राङ्गण के चारों ओर बने हुए हैं। प्राङ्गण में खजूर, अनार, चमेली आदि वृक्ष और पौधे लगे रहते हैं। इसी प्राङ्गण की ओर सबके घरों के दरवाज़े और खिड़कियाँ लगी रहती हैं। लोग अपने घर के सामने प्राङ्गण में उठते-बैठते तथा अपना काम-काज करते हैं।

सेविली-निवासियों के बीच में पहुँचने पर प्रत्येक यात्री की यही इच्छा होगी कि चलो, अब यहीं बस जायँ। वास्तव में उनके घरों में विनय और प्रेम का राज्य है। उनके कुटुम्ब में जिस आनन्द का अस्तित्व है वह उनकी ख़ास चीज़ है। वे लोग रात-दिन बैल की तरह काम में ही नहीं जुटे रहते और न उनको रद्दी पुस्तकों के पढ़ने का ही रोग होता है। अपने घर के लोगों से बातें करते हुए वे घण्टों बैठे सिगरेट पिया करते हैं। हाँ, उनको बातों का रोग अवश्य होता है। दुनिया की शायद ही कोई दूसरी जाति उनके

समान प्रगल्भ हो। यदि मौक़ा पड़ जाय तो वे सिगरेट पीते और बातें करते सारी रात की रात बिता डालें और उनका मन न ऊबे।

स्पेन की राजधानी मेड्रिड एक आधुनिक नगर है। इस बात में यह स्पेन के दूसरे नगरों से सर्वथा भिन्न है। योरप के दूसरे देशों के आधुनिक नगरों की भाँति यहाँ के भी निवासी वैज्ञानिक युग के प्रसाद का उपभोग कर रहे हैं; नये-नये कल-कारखानों में अपना जीवन-यापन कर नये जीवन का आनन्द लूट रहे हैं। रात-दिन काम जारी रहता है। विश्राम के लिए अवकाश नहीं मिलता। जब यात्री दूसरे नगरों की यात्रा करता हुआ मेड्रिड पहुँचता है तब उसे इस बात का अनुभव होता है कि वास्तव में अब मैं किसी योरपीय नगर में आया हूँ। उसे यहाँ सेविली का सा आमोद-प्रमोद और करडोवा तथा टोलेडो की सी चिर-शान्ति देखने को नहीं मिलती। इस नगर की पुरानी बस्ती में एक ऐसा बाज़ार अवश्य लगता है जो इस समय भी मध्ययुग का चित्र आँखों के सामने खड़ा कर देता है। संसार में यही सबसे बड़ा गुदड़ी-बाज़ार है।

मेड्रिड की गलियाँ साफ़-सुथरी और सड़कें चौड़ी हैं। यहाँ ऊँचे-ऊँचे मकान हैं और बाज़ार में दूकानें क़रीने से लगी हैं। यहाँ के बाग़, चाय-पानी के विश्राम-घर आदि भी नये ढङ्ग के हैं। प्रेडो नामक चौक में सन्ध्या-समय स्त्री-पुरुष वायु-सेवन

को एकत्र होते हैं। उनकी पोशाक पेरिस के निवासियों जैसी होती है। गर्मी के कारण स्त्रियाँ पङ्खे लिये रहती हैं। एक भी ऐसी स्त्री न देख पड़ेगी जिसके हाथ में पङ्खा न हो। यहाँ के नाटक-घर और अजायब-घर भी बहुत प्रसिद्ध हैं। नाटकों का प्रचार स्पेन में बहुत ही पुराने समय से है। स्पेन की स्त्रियाँ नाट्यकला में अद्वितीय हैं। यहाँ नाटकों का शौक़ इतना बढ़ा-चढ़ा है कि घोर गर्मी के दिनों में भी नाटक-घर दर्शकों से ठसाठस भरे रहते हैं। 'मेड्रिड के अजायब-घरों में सब प्रकार का सङ्ग्रह महत्त्व-पूर्ण और दर्शनीय है। यहाँ की चित्रशाला में स्पेन के कलाधरों के चित्रों के भव्य नमूने एकत्र किये गये हैं। रोमन कैथलिक बादशाहों को ललित कलाओं से विशेष प्रेम था। १६ वीं और १७ वीं सदी में स्पेन का योरप के दूसरे देशों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इस कारण भी प्रायः सभी नामी-नामी चित्रकारों के उत्कृष्ट चित्रों का सङ्ग्रह यहाँ देखने को मिलता है।

स्पेनवासियों के जीवन के सम्बन्ध में यहाँ कुछ उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा। स्पेनवालों के स्वभाव की परख शीघ्र ही नहीं की जा सकती। यदि उनके स्वभाव का ज्ञान कोई प्राप्त करना चाहे तो उसे पूर्वोक्त सेविली नगर की यात्रा, अप्रेल के मध्य में, करनी चाहिए। उस समय वहाँ एक बड़ा भारी मेला लगता है। इस मेले में स्पेन के सभी प्रान्तों के निवासी एकत्र होते हैं। तीन दिन तक आमोद-प्रमोद की

धूम रहती है। नाच-गाना, खेल-कूद और दावतों के हृदय-ग्राही दृश्य देखने में आते हैं। इस मेले का नाम फ़ेरिया है। इसमें पशुओं की बड़ी बिक्री होती है। इस मेले में स्पेन-वालों के आनन्दपूर्ण उदार हृदय का पूर्ण परिचय मिल जाता है। कहीं किसी तरह के झगड़े-झञ्झट की आवाज़ तक नहीं सुनाई पड़ती। सर्वत्र प्रसन्नता और प्रेम का फुहारा उछ-लता दिखाई देगा।

फ़ेरिया के सिवा ईस्टर में जो धार्मिक महोत्सव सेविली में होता है वह भी स्पेनियों के स्वभाव का पूर्ण परिचायक है। उन्होंने धर्म को कैसे आनन्द का जामा पहना दिया है और उनमें कैसा गम्भीर धर्म-भाव है, इसका पता इस अवसर पर भले प्रकार लग जाता है। जैसे प्रयाग में दशहरे के समय विमान निकलते हैं वैसे ही सेविली-निवासी, ईस्टर-सप्ताह के रविवार को, अपने विमान निकालते हैं। इस उत्सव को भी देखने के लिए स्पेन के प्रत्येक प्रान्त के लोग एकत्र होते हैं, इस कारण बड़ा भारी मेला लग जाता है।

अतिथि-पूजा का प्रचार स्पेन में ख़ूब है। उसके आदर्श दृश्य सेविली में उपर्युक्त मेले के अवसर पर, प्रचुर संख्या में, देखने को मिलते हैं। इन मेलों के समय प्रायः सेविली-निवासी अपना सारा घर का घर मेहमानों के लिए ख़ाली कर देते हैं। वे स्वयं दिन भर तो इधर-उधर रहते और रात अपने घर के एक कोने में बैठकर बिता देते हैं। यही नहीं, अपने घर के धराऊ

कपड़े तक अतिथियों के व्यवहार के लिए उनके आगे लाकर रख देते हैं। जब तक मेहमान ठहरे रहते हैं, उनको बढ़िया से बढ़िया भोजन और वह भी मुफ्त में देते हैं। इसके सिवा उनके पास बैठकर विनोदपूर्ण बातों से उन्हें प्रसन्न करते रहते तथा यह देखते रहते हैं कि हमारे अतिथि को किस-किस वस्तु की आवश्यकता है।

स्पेनवालों का गार्हस्थ्य जीवन अत्यन्त सुखमय है। वे रात-दिन काम में जुटे रहना अपने जीवन का एकमात्र उद्देश नहीं समझते। इसी से वहाँ समय का कोई मूल्य नहीं है। भारत की भाँति स्पेन में भी यात्री रेलवे-स्टेशनों पर गाड़ी आने के घण्टों पहले जा बैठते हैं। स्पेनवालों में अत्यधिक अपत्य-स्नेह होता है। उसी प्रकार सन्तान भी अपने माता-पिता का सम्मान करना अपना एक-मात्र धर्म समझती है। इस स्थिति का प्रत्यक्ष प्रमाण तो स्वयं वहाँ के बच्चे हैं जिनके मुख पर आठों पहर प्रसन्नता झलकती रहती है।

स्पेन के लोग दीन-दुखियों के साथ दयापूर्ण व्यवहार करते हैं। दरवाज़े से भिक्षुक को विमुख लौटा देना वे मनुष्यता के बाहर समझते हैं। एक बात उन लोगों में बड़ी विचित्र होती है कि वे अपने मित्र के लिए प्राण तक देने को सदा तैयार रहते हैं। वे लोग अपने इस गुण के लिए परम्परा से विख्यात हैं।

स्पेनवालों के नृत्य-प्रेम की चर्चा किये बिना यह लेख अधूरा ही रह जायगा नृत्य-कला की ही बदौलत उनके

जीवन की सजीवता निरन्तर टपका करती है। दक्षिणी स्पेन का अनडालुसिया प्रान्त नृत्य-कला का केन्द्र है। यहाँ कई प्रकार के नृत्य प्रचलित हैं और प्राय: सबमें अरबी सभ्यता की छाप लगी हुई है।

एक बात अवश्य आक्षेप-योग्य है। वह है साँड़-युद्ध। यह सचमुच क्रूर कृत्य है। इनके साँड़-युद्ध को देखकर बाहरी यात्री इनकी सारी सहृदयता और भावुकता को नमस्कार करने को तैयार हो जाते हैं। आश्चर्य तो यह देखकर होता है कि ऐसे जघन्य कर्म में स्त्रियाँ तक योग देती हैं। साँड़-युद्ध स्पेन की एक जातीय प्रथा है। इस अवसर पर साँड़ का बड़ी निर्दयता से वध किया जाता है। प्राय: सभी शहरों में इसके अखाड़े हैं। स्पेनवालों ने साँड़-युद्ध को धर्म का रूप दे दिया है। पवित्र सप्ताह में रविवार के दिन साँड़-युद्ध होता है। इसके अखाड़े में प्राय: सर्वत्र छोटे-छोटे गिरजे होते हैं। इसको देखने के लिए बड़ी भीड़ लगती है। ग़रीब लोग अपने कपड़े तक बेचकर अखाड़े का टिकट खरीदते हैं। साँड़-युद्ध का प्रचार अरबों ने ही किया था। साँड़ भी अफ़्रीका से लाये गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि स्पेनी लोग पशुओं के साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करते हैं। ये अपने बैलों और ख़च्चरों को प्राय: मारते-मारते बेदम कर देते हैं। पक्षियों को पकड़कर और उधेड़कर फेंक देना वहाँ के लड़कों का एक तमाशा है। परन्तु इतने क्रूर कर्म करते रहने

पर भी स्पेनी लोग दयाशून्य नहीं कहे जा सकते। इनके स्वभाव में निष्ठुरता और दयालुता का विलक्षण सम्मिश्रण पाया जाता है।

५—कला का विवेचन

[बाबू श्यामसुन्दरदास, बी० ए०]

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है उसकी "कला" संज्ञा है। कला के दो प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अन्तर्गत वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का सम्बन्ध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुन्दर भी हो। परन्तु मनुष्य सौन्दर्योपासक प्राणी है। वह सभी

उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुन्दर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत-से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुन्दर भी हैं, अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अन्तर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुन्दर होने में सन्देह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिए मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है त्यों-त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौन्दर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किये उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न-भिन्न देशों के लोग अपनी-अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुन्दरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सबका मन एक-सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं; और दूसरी वे जो श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मन्दिर-

निर्म्माण), मूर्त्ति (तक्षण-कला) और चित्रकलाएँ तो नेत्र-द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य-काव्य कानों के द्वारा। पहली कला में किसी मूर्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनन्तर दूसरा स्थान मूर्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है; परन्तु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खण्ड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्ति-कला के अनन्तर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लम्बाई, चौड़ाई और मुटाई होती है।

वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्म्माण-कर्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिए मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परन्तु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिए लम्बाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम-मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों-ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिम्ब अङ्कित कर देता है जो असली वस्तु के रूप-रङ्ग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब सङ्गीत के विषय में विचार कीजिए। सङ्गीत में नाद का परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न-भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अन्तिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता; पर शब्द की रमणीयता आने से सङ्गीत के सदृश ही नाद-सौन्दर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-

रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थरमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता। (२) जिन उपकरणों-द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है वे चक्षुरिन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से सम्बन्ध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचा-कर उसे प्रभावित करता है; अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धान्त निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इन्द्रियों की मध्यस्थता-द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि में सौन्दर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के सम्बन्ध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार, (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है, और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं। ये सब पदार्थ मूर्त हैं; अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश, छाया, रङ्ग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रङ्ग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी वे जो कुछ प्रदर्शित करते हैं उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रतिछाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मन्दिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि

इसमें हिन्दू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तुकला की प्रधानता है। धर्मस्थानों में भिन्न-भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुम्बज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परन्तु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनन्दित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तुकार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों चाहे न हों; अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

मूर्त्ति-कला में मूर्त आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्त्तिकार काट-छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्त्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अन्तर्हित रहते हैं। वह सब कुछ—अर्थात् रङ्ग, रूप, आकार आदि—प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्ज़े का आवश्यक उपयोग न करे। परन्तु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिए वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्त्तिकार अपने प्रस्तर-खण्ड या धातु-खण्ड में जीवधारियों की

प्रतिछाया बड़ी सुगमता से सङ्घटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्त्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुन्दरता को प्रदर्शित करना है।

चित्र-कला का आधार कपड़े, काग़ज़, लकड़ी आदि का चित्रपट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रश या क़लम की सहायता से भिन्न-भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परन्तु मूर्त्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से उसे अपनी कला की ख़ूबी दिखलाने के लिए अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रश या क़लम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अङ्कन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अङ्कित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अङ्गों को ही जानना और अङ्कित करना आवश्यक नहीं होता; किन्तु उसे अपने विचार के अनुसार उस

घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभङ्गी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिए, अपना ब्रश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के सम्बन्ध में विचार किया गया, जो आँखों-द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् सङ्गीत और काव्य, पर विचार किया जायगा, जो कर्ण-द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

सङ्गीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कण्ठ से या कई प्रकार के यन्त्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धान्तों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनन्त समय लगा है। सङ्गीत के सात स्वर इन सिद्धान्तों के आधार हैं। वे ही सङ्गीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि सङ्गीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य-मात्र की आत्मा पर

पड़ता चला आ रहा है। जङ्गली से जङ्गली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। सङ्गीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनन्द की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोक-सागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शान्त रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय में शान्ति की धारा बहा सकता है। परन्तु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। सङ्गीत-द्वारा भिन्न-भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्ण-कुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परन्तु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचण्ड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात सङ्गीत-कला की सीमा के बाहर है। सङ्गीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है कि जितनी काव्य-कला को छोड़कर, और कोई कला नहीं हो पाई। सङ्गीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चञ्चल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्त्ति और चित्रकला से बढ़कर है।

एक बात यहाँ और जान लेना अत्यन्त आवश्यक है। वह यह कि सङ्गीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। उनमें अन्योन्याश्रय है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिए किसी दूसरे साधन के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इन्द्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अङ्कित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ साङ्केतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इस सम्बन्ध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

६—चाणक्य की विजय

[भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र]

स्थान—सूली देने का मसान

(पहला चाण्डाल आता है)

चाण्डाल—हटो लोगो हटो, दूर हो भाइयो, दूर हो। जो अपना प्राण, धन और कुल बचाना हो तो दूर हो। राजा का विरोध यत्न-पूर्वक छोड़ो।

करि कै पथ्य विरोध इक, रोगी त्यागत प्रान।
पै विरोध नृप सों किये, नसत सकुल नर जान॥

जो न मानो तो इस राजा के विरोधी को देखो जो स्त्री-पुत्र-समेत यहाँ सूली देने को लाया जाता है। (ऊपर देखकर) क्या कहा? कि इस चन्दनदास के छूटने का कुछ उपाय भी है? भला इस बेचारे के छूटने का कौन उपाय है। पर हाँ, जो यह मन्त्री राक्षस का कुटुम्ब दे दे तो छूट जाय। (फिर ऊपर देखकर) क्या कहा कि यह शरणागत-वत्सल प्राण देगा पर यह बुरा कर्म न करेगा? तो फिर इसकी बुरी गति होगी, क्योंकि बचने का तो वही एक उपाय है।

(कन्धे पर सूली रक्खे मृत्यु का कपड़ा पहने चन्दनदास, उसकी स्त्री और पुत्र, और दूसरा चाण्डाल आते हैं)

स्त्री—हाय हाय! जो हम लोग नित्य अपनी बात बिगड़ने के डर से फूँक-फूँककर पैर रखते थे उन्हीं हम लोगों की,

चोरों की भाँति, मृत्यु होती है। काल देवता को नमस्कार है, जिसको मित्र-उदासीन सभी एक से हैं, क्योंकि—

छोड़ि माँस भख मरन भय, जियहिं खाइ तृन घास।
तिन गरीब मृग को करहिं, निरदय व्याधा नास॥

(चारों ओर देखकर)

अरे भाई जिष्णुदास ! मेरी बात का उत्तर क्यों नहीं देते ? हाय ! ऐसे समय में कौन ठहर सकता है ?

चन्दनदास—(आँसू भरकर) हाय ! यह मेरे सब मित्र बेचारे कुछ नहीं कर सकते, केवल रोते हैं और अपने को अकर्मण्य समझ शोक से सूखा-सूखा मुँह किये आँसू भरी आँखों से एकटक मेरी ही ओर देखते आते हैं।

दोनों चाण्डाल—अजी चन्दनदास ! अब तुम फाँसी के स्थान पर आ चुके इससे कुटुम्ब को बिदा करो।

चन्दनदास—(स्त्री से) अब तुम पुत्र को लेकर जाओ, क्योंकि आगे तुम्हारे जाने की भूमि नहीं है।

स्त्री—ऐसे समय में तो हम लोगों को बिदा करना उचित ही है, क्योंकि आप परलोक में जाते हैं, कुछ परदेश नहीं जाते। (रोती है)

चन्दनदास—सुनो ! मैं कुछ अपने दोष से नहीं मारा जाता, एक मित्र के हेतु प्राण जाते हैं, तो इस हर्ष के स्थान पर क्यों रोती है ?

स्त्री—नाथ ! जो यह बात है तो कुटुम्ब को क्यों बिदा करते हो ?

चन्दनदास—तो फिर तुम क्या कहती हो?

स्त्री—(आँसू भरकर) नाथ! कृपा करके मुझे भी साथ ले चलो।

चन्दनदास—हा! यह तुम कैसी बात कहती हो? अरे! तुम इस बालक का मुख देखो और इसकी रक्षा करो; क्योंकि यह बेचारा कुछ लोक-व्यवहार नहीं जानता। यह किसका मुँह देख करके जीएगा?

स्त्री—इसकी रक्षा कुलदेवी करेंगी। बेटा, अब पिता फिर न मिलेंगे इससे मिलकर प्रणाम कर ले।

बालक—(पैरों पर गिरके) पिता! मैं आपके बिना क्या करूँगा?

चन्दनदास—बेटा! जहाँ चाणक्य न हो वहाँ बसना।

दोनों चाण्डाल—(सूली खड़ी करके) अजी चन्दनदास! देखो सूली खड़ी हुई, अब सावधान हो जाओ।

स्त्री—(रोकर) लोगो, बचाओ, अरे! कोई बचाओ।

चन्दनदास—भाइयो! तनिक ठहरो। (स्त्री से) अरे तुम रो-रोकर क्या नन्दों को स्वर्ग से बुला लोगी? अब वे लोग यहाँ नहीं हैं जो स्त्रियों पर सदा दया रखते थे।

१ चाण्डाल—अरे वेणुवेत्रक! पकड़ इस चन्दनदास को, घर-वाले आप ही रो-पीटकर चले जावेंगे।

२ चाण्डाल—अच्छा वज्रलोमक! मैं पकड़ता हूँ।

चन्दनदास—भाइयो! तनिक ठहरो, मैं अपने लड़के से मिल लूँ। (लड़के को गले लगाकर और माथा सूँघकर) बेटा! मरना

तो था ही एक मित्र के हेतु मरते हैं, इससे सोच मत कर।

पुत्र—पिता! क्या हमारे कुल के लोग ऐसा ही करते आये हैं? (पैर पर गिर पड़ता है)

१ चाण्डाल—पकड़ रे वज्रलोमक! (दोनों चन्दनदास को पकड़ते हैं)

स्त्री—लोगो! बचाओ रे, बचाओ!

(वेग से राक्षस आता है)

राक्षस—डरो मत, डरो मत। सुनो-सुनो, सेनापति! चन्दनदास को मत मारना, क्योंकि—

नसत स्वामि-कुल जिन लख्यौ, निज चख शत्रु समान।
मित्र दुःख हू में धर्यौ, निलज होइ जिन प्रान॥
तुम सों हारि बिगारि सब, कढ़ी न जाकी साँस।
ता राक्षस के कण्ठ में, डारहु यह जम-फाँस॥

चन्दनदास—(देखकर और आँखों में आँसू भरकर) अमात्य! यह क्या करते हो?

राक्षस—मित्र, तुम्हारे सच्चरित्र का एक छोटा-सा अनुकरण।

चन्दनदास—अमात्य! मेरा किया तो सब निष्फल हो गया, पर आपने ऐसे समय यह साहस अनुचित किया।

राक्षस—मित्र चन्दनदास! उलहना मत दो, सभी स्वार्थी हैं। (चाण्डाल से) अजी! तुम उस दुष्ट चाणक्य से जाके कहो।

दोनों चाण्डाल— क्या कहैं ?

राक्षस—जिन कलि मैं हूँ मित्र हित, तृन सम छोड़े प्रान।
जाके जस-रवि सामुहे, शिवि-जस दीप समान॥
जाको अति निर्मल चरित, दया आदि नित जानि।
बौधहु सब लज्जित भये, परम शुद्ध जेहि मानि॥
ता पूजा के पात्र को, मारत तू धरि पाप—
जाके हितु; सो शत्रु तुव, आयो इत मैं आप॥

१ चाण्डाल—अरे वेणुवेत्रक! तू चन्दनदास को पकड़कर इस मसान के पेड़ की छाया में बैठ, तब से मन्त्री चाणक्य को मैं समाचार दूँ कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

२ चाण्डाल—अच्छा रे वज्रलोमक! (चन्दनदास, स्त्री, बालक और सूली को लेकर जाता है)

१ चाण्डाल—(राक्षस को लेकर घूमकर) अरे! यहाँ पर कौन है ? नन्दकुल-सेनासञ्चय के चूर्ण करनेवाले वज्र से, वैसे ही मौर्यकुल में लक्ष्मी और धर्म स्थापना करनेवाले, आर्य चाणक्य से कहो—

राक्षस—(आप ही आप) हाय! यह भी राक्षस को सुनना लिखा था!

१ चाण्डाल—कि आपकी नीति ने जिसकी बुद्धि को घेर लिया है वह अमात्य राक्षस पकड़ा गया।

(परदे में सब शरीर छिपाये केवल मुँह खोले चाणक्य आता है)

चाणक्य—अरे कहो, कहो।

किन निज बसनहि मैं धरी, कठिन अगिनि की ज्वाल ?
रोकी किन गति वायु की, डोरिन ही के जाल ?
किन गजपति-मर्दन प्रबल, सिंह पींजरा दीन ?
किन केवल निज बाहु-बल, पार समुद्रहि कीन ?

१ चाण्डाल—परम-नीति-निपुण आप ही ने तो।

चाणक्य—अजी ! ऐसा मत कहो, बरन "नन्दकुलद्वेषी दैव ने" यह कहो।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अरे क्या यही दुरात्मा वा महात्मा कौटिल्य है ?

सागर जिमि बहुरत्नमय, तिमि सब गुण की खानि।
तोष होत नहिं देखि गुण, बैरी हू निज जानि।

चाणक्य—(देखकर) अरे ! यही अमात्य राक्षस है ? जिस महात्मा ने—

बहु दुख सों सोचत सदा, जागत रैन बिहाय।
मेरी मति अरु चन्द्र की, सैनहि दई थकाय॥

(परदे से बाहर निकलकर) अजी अजी अमात्य राक्षस ! मैं विष्णुदत्त आपको दण्डवत् करता हूँ। (पैर छूता है)

राक्षस—(आप ही आप) अब मुझे अमात्य कहना तो केवल मुँह चिढ़ाना है (प्रकट) अजी विष्णुगुप्त ! मैं चाण्डालों से छू गया हूँ इससे मुझे मत छुओ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस ! वह श्वपाक नहीं है, वह आपका जाना-सुना सिद्धार्थक नामा राजपुरुष है और दूसरा

भी समिद्धार्थक नामा राजपुरुष ही है; और इन्हीं दोनों द्वारा विश्वास उत्पन्न करके उस दिन शकटदास को धोखा देकर मैंने वह पत्र लिखवाया था।

राक्षस—(आप ही आप) अहा! बहुत अच्छा हुआ कि मेरा शकटदास पर से सन्देह दूर हो गया।

चाणक्य—बहुत कहाँ तक कहूँ—

वे सब भद्रभटादि वह, सिद्धार्थक वह लेख।
वह भदन्त वह भूषणहु, वह नट आरत भेख॥
वह दुख चन्दनदास को, जो कछु दियो दिखाय।
सो सब मम (लज्जा से कुछ सकुचकर)
सो सब राजा चन्द्र को, तुमसों मिलन उपाय॥

देखिए, यह राजा भी आपसे मिलने आप ही आते हैं।

राक्षस—(आप ही आप) अब क्या करूँ? (प्रकट) हाँ, मैं देख रहा हूँ।

(सेवकों के सङ्ग राजा आता है)

राजा—(आप ही आप) गुरुजी ने बिना युद्ध ही दुर्जय शत्रु का कुल जीत लिया। इसमें कोई सन्देह नहीं, मैं तो बड़ा लज्जित हो रहा हूँ क्योंकि—

ह्वै बिनु काम लजाय करि, नीचो मुख भरि सोक।
सोवत सदा निषंग में, मम बानन के थोक॥
सोवहिं धनुष उतारि हम, जदपि सकहिं जग जीति।
जा गुरु के जागत सदा, नीति-निपुण गत-भीति॥

(चाणक्य के पास जाकर) आर्य्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल ! अब सब असीस सच्ची हुई, इससे इन पूज्य अमात्य राक्षस को नमस्कार करो। ये तुम्हारे पिता के सब मन्त्रियों में मुख्य हैं।

राक्षस—(आप ही आप) लगाया न इसने सम्बन्ध।

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य्य ! चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

राक्षस—(देखकर आप ही आप) अहा ! यही चन्द्रगुप्त है !

होनहार जाको उदय, बालपने ही जोइ।
राज लह्यो जिन बाल गज, जूथाधिप सम होइ ॥

(प्रकट) महाराज ! जय हो।

राजा—आर्य्य !

तुमरे आछत बहुरि गुरु, जागत नीति-प्रवीन।
कहहु कहा या जगत में, जाहि न जय हम कौन ॥

राक्षस—(आप ही आप) देखो ! यह चाणक्य का सिखाया-पढ़ाया मुझसे कैसे सेवकों की सी बात करता है ! नहीं, नहीं, यह आप ही विनीत है। अहा ! देखो, चन्द्रगुप्त पर डाह के बदले उलटा अनुराग होता है। चाणक्य सब स्थान पर यशस्वी है क्योंकि—

पाइ स्वामि सतपात्र जो, मन्त्री मूरख होइ।
तौ हू पावै लाभ जस, इत तौ पण्डित दोइ ॥

मूरख स्वामी लहि गिरै, चतुर सचिव हू हारि।
नदो-तीर-तरु जिमि नसत, जीरन ह्वै लहि वारि॥

चाणक्य—क्यों अमात्य राक्षस! आप क्या चन्दनदास के प्राण बचाया चाहते हैं?

राक्षस—इसमें क्या सन्देह है?

चाणक्य—पर अमात्य! आप शस्त्र ग्रहण नहीं करते इससे सन्देह होता है कि आपने अभी राजा पर अनुग्रह नहीं किया इससे जो सचमुच चन्दनदास के प्राण बचाया चाहते हो तो यह शस्त्र लीजिए।

राक्षस—सुनो विष्णुगुप्त! ऐसा कभी नहीं हो सकता, क्योंकि हम लोग उस योग्य नहीं हैं; विशेष करके जब तक तुम शस्त्र ग्रहण किये हो तब तक हमारे शस्त्र ग्रहण करने का क्या काम है?

चाणक्य—भला अमात्य! आपने यह कहाँ से निकाला कि हम योग्य हैं और आप अयोग्य हैं? क्योंकि देखिए—

रहत लगामहि कसे अश्व की पीठ न छोड़त।
खान पान असनान भोग तजि मुख नहिं मोड़त॥
छूटे सब सुख साज, नींद नहिं आवत नयनन।
निसिदिन चौंकत रहत, वीर सब भय धरि निज मन॥
यह हौदन सों सब छन कस्यौ नृप गजगन अवरेखिए।
रिपु-दर्प दूर कर अति प्रबल निज महात्म बल देखिए॥

वा इन बातों से क्या। आपके शस्त्र ग्रहण किये बिना तो चन्दनदास बचता भी नहीं।

राक्षस—(आप ही आप)

नन्द-नेह छूट्यो नहीं, दास भये अरि साथ।
ते तरु कैसे काटिहैं, जे पाले निज हाथ॥
कैसे करिहैं मित्र पै, हम निज कर सों घात।
अहो भाग्यगति अति प्रबल, मोहिं कछु जानि न जात॥

(प्रकाश) अच्छा विष्णुगुप्त ! मँगाओ खड्ग, "नमस्सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय" देखो, मैं उपस्थित हूँ।

चाणक्य—(राक्षस को खड्ग देकर हर्ष से) राजन् वृषल ! बधाई है बधाई है। अब अमात्य राक्षस ने तुम पर अनुग्रह किया। अब तुम्हारी दिन-दिन बढ़ती ही है।

राजा—यह सब आपकी कृपा का फल है।

(पुरुष आता है)

पुरुष—जय हो महाराज की जय हो। महाराज, भद्रभट भागुरायणादिक मलयकेतु के हाथ-पैर बाँधे द्वार पर खड़े हैं। इसमें महाराज की क्या आज्ञा है?

चाणक्य—हाँ सुनो ! अजी ! अमात्य राक्षस से निवेदन करो, अब सब काम वही करेंगे।

राक्षस—(आप ही आप) कैसे अपने वश में करके मुझी से कहलाता है क्या करें ? (प्रकाश) महाराज चन्द्रगुप्त ! यह तो आप जानते ही हैं कि हम लोगों का मलयकेतु

का कुछ दिन तक सम्बन्ध रहा है। इससे उसका प्राण तो बचाना ही चाहिए।

राजा—(चाणक्य का मुँह देखता है)

चाणक्य—महाराज! अमात्य राक्षस की पहली बात तो सर्वथा माननी ही चाहिए। (पुरुष से) अजी! तुम भद्रभटादिकों से कह दो "अमात्य राक्षस के कहने से महाराज चन्द्रगुप्त मलयकेतु को उसके पिता का राज्य देते हैं" इससे तुम सङ्ग जाकर उसको राज पर बिठा आओ।

पुरुष—जो आज्ञा।

चाणक्य—अजी! अभी ठहरो, सुनो। विजयपाल दुर्गपाल से यह कह दो कि अमात्य राक्षस के शस्त्रग्रहण से प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त यह आज्ञा करते हैं कि "चन्दनदास को सब नगरों का जगत्-सेठ कर दो।"

पुरुष—जो आज्ञा।

चाणक्य—चन्द्रगुप्त! अब तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ?

राजा—इससे बढ़कर और क्या भला होगा।

मैत्री राक्षस सों भई, मिल्यौ अकण्टक राज।
नन्द नसे अब सब कहा, यासों बढ़ि सुख साज॥

चाणक्य—(प्रतिहारी से) विजये! दुर्गपाल विजयपाल से कहो कि "अमात्य राक्षस के मेल से प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त आज्ञा करते हैं कि हाथी-घोड़ों को छोड़-

कर और सब बँधुओं का बन्धन छोड़ दो।" या जब अमात्य राक्षस मन्त्री हुए तब अब हाथी-घोड़ों का क्या सोच है इससे—

छोड़ो सब गज तुरग अब, कछु मत राखौ बाँधि।
केवल हम बाँधत सिखा, निज परतिज्ञा साधि॥

(शिखा बाँधता है)

प्रतिहारी—जो आज्ञा।

चाणक्य—अमात्य राक्षस! मैं इससे बढ़कर कुछ और भी आपका प्रिय कर सकता हूँ?

राक्षस—इससे बढ़कर और हमारा क्या प्रिय हो सकता है? पर जो इतने पर भी सन्तोष न हो तो यह आशीर्वाद सत्य हो—

"वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्रागूदन्तकोटिम्प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना पीवरं राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

७—उत्साह

[पं० रामचन्द्र शुक्ल]

दुःख की कोटि में जो स्थान भय का है आनन्द की कोटि में वही स्थान उत्साह का है। भय से हम आगामी दुःख के

निश्चय से दुखी और प्रयत्नवान् भी होते हैं। मूल दुःख से भय की विभिन्नता प्रयत्नावस्था और अप्रयत्नावस्था दोनों में स्पष्ट दिखाई पड़ती है पर आगामी सुख के निश्चय का प्रयत्न-शून्य आनन्द मूल आनन्द से कुछ इतना भिन्न नहीं जान पड़ता। यदि किसी भावी आपत्ति की सूचना पाकर कोई एकदम ठक हो जाय, कुछ भी हाथ-पैर न हिलावे, तो भी उसके दुःख को साधारण दुःख से अलग करके भय की संज्ञा दी जायगी, पर यदि किसी प्रिय मित्र के आने का समाचार पाकर हम चुपचाप आनन्दित होकर बैठे रहें वा थोड़ा हँस भी दें तो यह हमारा उत्साह नहीं कहा जायगा। हमारा उत्साह तभी कहा जायगा जब हम अपने मित्र का आगमन सुनते ही उठ खड़े होंगे, उससे मिलने के लिए चल पड़ेंगे और उसके ठहरने इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिए प्रसन्न मुख इधर से उधर दौड़ते दिखाई देंगे। प्रयत्न या चेष्टा उत्साह का अनिवार्य्य लक्षण है। प्रयत्न-मिश्रित आनन्द ही का नाम उत्साह है। हँसना, उछलना, कूदना आदि आनन्द के उल्लास की उद्देश्य-विहीन क्रियाओं को प्रयत्न नहीं कह सकते। उद्देश्य से जो क्रिया की जाती है उसी को प्रयत्न कहते हैं। जिसकी प्राप्ति से आनन्द होगा उसकी प्राप्ति के निश्चय से उत्पन्न जिस आनन्द के साथ हम प्राप्ति के साधन में प्रवृत्त होते हैं उसे तो उत्साह कहते ही हैं, उसके अतिरिक्त सुख के निश्चय पर उसके उपभोग की तैयारी या प्रयत्न जिस आनन्द के साथ

करते हैं उसे भी उत्साह कहते हैं। साधन-क्रिया में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय प्रयत्नाधीन या कुछ अपूर्ण रहता है। उपभोग की तैयारी में प्रवृत्त होने की अवस्था में प्राप्ति का निश्चय स्वप्रयत्न से स्वतन्त्र अतः अधिक पूर्ण रहता है। पहली अवस्था में यह निश्चय रहता है कि यदि हम यह कार्य करेंगे तो यह सुख प्राप्त होगा। दूसरी में यह निश्चय रहता है कि वह सुख हमें प्राप्त होगा अतः हम उसकी प्राप्ति के प्रयत्न में नहीं बल्कि उपभोग के प्रयत्न में प्रवृत्त होते हैं। किसी ने कहा कि तुम यह काम कर दोगे तो तुम्हें यह वस्तु देंगे। इस पर यदि हम उस काम में लग गये तो यह हमारी प्राप्ति का प्रयत्न है। यदि किसी ने कहा कि तुम्हारे अमुक मित्र आ रहे हैं और हम प्रसन्न होकर उनके ठहराने आदि की तैयारी में इधर से उधर दौड़ने लगें तो यह हमारा उपभोग का प्रयत्न या उपक्रम है। कभी-कभी इन दोनों प्रयत्नों की स्थिति पूर्वापर होती है, अर्थात् जिस सुख की प्राप्ति की आशा से हम उत्साह-पूर्ण प्रयत्न करते हैं उसकी प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाने पर हम उसके उपभोग के उत्साह-पूर्ण प्रयत्न में लगते हैं; फिर जिस क्षण वह सुख प्राप्त हो जाता है उसी क्षण से उत्साह की समाप्ति और मूल आनन्द का आरम्भ हो जाता है।

इस विवरण से मन में यह बात बैठ गई होगी कि जो आनन्द सुख-प्राप्ति से साधन-सम्बन्ध या उपक्रम-सम्बन्ध

रखनेवाली क्रियाओं में देखा जाता है उसी का नाम उत्साह है। पर मनुष्य का अन्तःकरण एक है इससे यदि वह किसी एक विषय में उत्साह-पूर्ण रहता है तो कभी-कभी अन्य विषयों में भी उस उत्साह की झलक दिखाई दे जाती है। यदि हम कोई ऐसा कार्य्य कर रहे हैं जिससे आगामी सुख का पूरा निश्चय है तो हम उस कार्य्य को तो उत्साह के साथ करते ही हैं, साथ अन्य कार्य्यों में भी प्रायः अपना उत्साह दिखा देते हैं। यह बात कुछ उत्साह ही में नहीं, अन्य मनोवेगों में भी बराबर देखी जाती है। यदि हम किसी पर क्रुद्ध बैठे हैं और इसी बीच में कोई दूसरा आकर हमसे कोई बात पूछता है तो उस पर भी हम झुँझला उठते हैं। इस झुँझलाहट का कोई निर्दिष्ट लक्ष्य नहीं। यह केवल क्रोध की स्थिति के व्याघात को रोकने की क्रिया है, क्रोध की रक्षा का प्रयत्न है। इस झुँझलाहट-द्वारा हम यह प्रकट करते हैं कि हम क्रोध में हैं और क्रोध ही में रहना चाहते हैं। इस क्रोध को बनाये रखने के लिए हम उन बातों से भी क्रोध ही संग्रह करते हैं जिनसे दूसरी अवस्था में हम विपरीत भावों को ग्रहण करते। यदि हमारा चित्त किसी विषय में उत्साहित है तो हम अन्य विषयों में भी अपना उत्साह प्रकट कर सकते हैं। यदि हमारा मन बढ़ा हुआ है तो हम बहुत से काम प्रसन्नतापूर्वक करने के लिए तैयार हो सकते हैं। इस व्यापार को हम मनोवेगों द्वारा स्वरक्षा का प्रयत्न कह सकते हैं। इसी का विचार करके सलाम करनेवाले लोग

हाकिमों से मुलाक़ात करने के पहले अर्दलियों से उनका मिज़ाज पूछ लिया करते हैं।

उत्साहयुक्त कर्म के साथ ही अनुकूल फल का आरम्भ है; जिसकी प्रेरणा से कर्म में प्रवृत्ति होती है। यदि फल दूर ही पर रक्खा दिखाई पड़े, उसके परिज्ञान के साथ ही उसका लेशमात्र भी कर्म या प्रयत्न के साथ-साथ लगा हुआ न मालूम पड़े तो हमारे हाथ-पाँव कभी न उठें और उस फल के साथ हमारा संयोग ही न हो। इससे किसी फल के अनुभूत्यात्मक अंश का किञ्चित् संयोग उसी समय से होने लगता है जिस समय हमें उसकी प्राप्ति की सम्भावना विदित होती है और हम प्रयत्न में अग्रसर होते हैं। यदि हमें यह निश्चय हो कि अमुक स्थान पर जाने से हमें किसी प्रिय व्यक्ति का दर्शन होगा तो हमारे चित्त में उस निश्चय का फल-स्वरूप एक ऐसा आनन्द उमड़ेगा जो हमें बैठा न रहने देगा। हम चल पड़ेंगे और हमारे अङ्ग की प्रत्येक गति में प्रफुल्लता दिखाई देगी। इस प्रफुल्लता के बल पर हम कर्मों की उस शृङ्खला को पार कर सकते हैं जो फल तक पहुँचाती है। फल की इच्छामात्र से जो प्रयत्न किया जायगा वह अभावमय और आनन्द-शून्य होने के कारण स्थायी नहीं होगा। कभी-कभी उसमें इतनी आकुलता होगी कि वह उत्तरोत्तर क्रम का निर्वाह न कर सकने के क़ारण बीच ही में चूक जायगा। मान लीजिए कि एक ऊँचे पर्वत के शिखर पर विचरते हुए किसी

व्यक्ति को बहुत दूर नीचे तक गई सीढ़ियाँ दिखाई दीं और यह मालूम हुआ कि नीचे उतरने पर सोने की खान मिलेगी। यदि उसमें इतनी सजीवता है कि इस सूचना के साथ ही वह उस स्वर्ण के साथ एक प्रकार का संयोग अनुभव करने लगा तथा उसका चित्त प्रफुल्ल और शरीर अधिक सचेष्ट हो गया तो उसे एक-एक सीढ़ी स्वर्णमयी दिखाई देगी, एक-एक सीढ़ी उतरने में उसे आनन्द मिलेगा, एक-एक क्षण उसे सुख से बीतता हुआ जान पड़ेगा और वह प्रसन्नता के साथ खान तक पहुँचेगा। उसके प्रयत्न-काल को भी फल-प्राप्ति-काल के अन्तर्गत ही समझना चाहिए। इसके विरुद्ध यदि उसका हृदय दुर्बल होगा और उसमें इच्छामात्र ही उत्पन्न होकर रह जायगी तो अभाव के बोध के कारण उसके चित्त में यही होगा कि कैसे झट नीचे पहुँच जायँ। उसे एक-एक सीढ़ी उतरना बुरा मालूम होगा और आश्चर्य नहीं कि वह या तो हारकर लौट जाय अथवा अड़बड़ाकर मुँह के बल गिर पड़े।

इसी से कर्म में ही फल के अनुभव का अभ्यास बढ़ाने का उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने फलासङ्ग-शून्य कर्म के सिद्धान्त द्वारा इस प्रकार दिया है—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

कर्म से पृथक् फल की विशेष आसक्ति से कर्म के लाघव की वासना उत्पन्न होती है, चित्त में यही आता है कि कर्म

बहुत कम करना पड़े और फल बहुत-सा मिल जाय। श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी भारतवासी इस वासना से ग्रस्त होकर कर्म से उदासीन हो बैठे और फल के इतने पीछे पड़े कि गरमी में ब्राह्मण को एक कुम्हड़ा देकर पुत्र की कामना करने लगे; चार आने रोज़ का अनुष्ठान बैठाकर व्यापार में लाभ, शत्रु पर विजय और न जाने क्या-क्या चाहने लगे। प्राप्त या उपस्थित वस्तु में आसक्ति होनी चाहिए। कर्म सामने उपस्थित रहता है, इससे उसी में आसक्ति चाहिए, फल दूर रहता है इससे उसका लक्ष्य ही काफ़ी है। जिस आनन्द से कर्म की उत्तेजना मिलती है या जो आनन्द कर्म करते समय मिलता है वही उत्साह है। कर्म के मार्ग पर आनन्द-पूर्वक चलता हुआ उत्साही मनुष्य यदि अन्तिम फल तक न भी पहुँचे तो भी उसकी दशा न कर्म करनेवाले की अपेक्षा, अधिक अवस्थाओं में अच्छी रहेगी क्योंकि एक तो कर्मकाल में जितना उसका जीवन बीता वह सुख में बीता; इसके उपरान्त फल की अप्राप्ति पर भी उसे यह पछतावा न रहा कि मैंने यह प्रयत्न नहीं किया। लोग कह सकते हैं कि जिसने निष्फल प्रयत्न करके अपनी शक्ति और धन आदि का कुछ ह्रास किया उसकी अपेक्षा वह अच्छा जो किनारे रहा। पर फल पहले से कोई बना-बनाया तैयार पदार्थ नहीं होता। अनुकूल साधन कर्म के अनुसार उसके एक-एक अङ्ग की योजना होती है। इससे बुद्धि-द्वारा पूर्ण रूप से निश्चित किये हुए उपयुक्त साधन ही का

नाम प्रयत्न है। किसी मनुष्य के घर का कोई प्रिय प्राणी बीमार है। वह वैद्य के यहाँ से जब तक औषध ला-लाकर रोगी को देता है और इधर-उधर दौड़-धूप करता है तब तक उसके चित्त में जो सन्तोष रहता है वह उसे कदापि न प्राप्त होता यदि वह रोता हुआ बैठा रहता। इसके अतिरिक्त रोगी के न अच्छे होने की अवस्था में भी वह उस आत्मग्लानि के कठोर दुःख से बचा रहेगा जो उसे जीवन भर यह सोच-सोचकर होता कि मैंने पूरा प्रयत्न नहीं किया। कर्म में आनन्द अनुभव करनेवालों ही का नाम कर्मण्य है। धर्म और उदारता के जो महत्कर्म होते हैं उनके अनुष्ठान में एक ऐसा अपार आनन्द भरा रहता है कि कर्त्ता को वे कर्म ही फलस्वरूप प्रतीत होते हैं। अत्याचार को दमन करने तथा क्लेश को दूर करने का प्रयत्न करते हुए चित्त में जो उल्लास और सन्तोष होता है वही लोकोपकारी कर्म्मवीर का सच्चा सुख है। उसके लिए सुख तब तक के लिए रुका नहीं रहता जब तक कि फल प्राप्त न हो जाय, बल्कि उसी समय से थोड़ा-थोड़ा करके मिलने लगता है जब वह कार्य्य आरम्भ करता है।

आशा और उत्साह में जो अन्तर है उसे भी विचार लेना चाहिए। आशा में सुख के निश्चय की अपूर्णता के कारण चेष्टा नहीं होती, पर उत्साह में क्रिया वा चेष्टा का होना ज़रूरी है। लोग बैठे-बैठे या लेटे-लेटे भी आशा करते हैं पर उत्साहित होकर कोई पड़ा नहीं रहता।

८—गुरु गोविन्दसिंह

[पं० नन्दकुमार देव शर्म्मा]

गुरु गोविन्दसिंह अपने पिता की मृत्यु का समाचार पाकर अत्यन्त दुखी हुए, पर वे इस दुःख से अधीर नहीं हुए। जिस भाँति स्काटलैंड के महारथी वालेस ने अपनी प्राणप्यारी पत्नी के क़तल होने पर अपने शत्रुओं को काटने की भीष्म प्रतिज्ञा की थी उसी भाँति गुरु गोविन्दसिंह ने बालक होने पर भी अपने पिता की दुःखदायिनी मृत्यु से शोकाकुल होकर कठिन व्रत धारण किया। उन्होंने अपने सिक्खों को इकट्ठा कर तेजस्वी शब्दों में कहा—"भाइयो! हम सब यह दारुण समाचार सुन चुके हैं कि पिता दिल्ली में मारे गये हैं। अब मैं इस संसार में अकेला हूँ। मेरी आन्तरिक इच्छा पिता की मृत्यु का बदला लेने की है। क्या तुममें से कोई ऐसा वीर है जो पिता के शव को दिल्ली से यहाँ ले आवे?" गुरु गोविन्दसिंह के इन जोशीले शब्दों को सुनकर एक सिक्ख दिल्ली पहुँचा और गुरु के शव को पञ्जाब ले आया। सिक्खों ने गुरु तेग़बहादुर के मस्तक का ख़ूब सत्कार किया, फिर धूम-धाम से अन्त्येष्टि क्रिया की। यद्यपि इस समय गुरु गोविन्दसिंह की अवस्था १४-१५ वर्ष की थी, तथापि उन्होंने बदला लेने की दृढ़ प्रतिज्ञा की। सांसारिक विषय-वासना से चित्त को हटाकर वे अपने कार्य्य के साधन में जुट गये। यमुना-तट,

पर उन्होंने तप करना आरम्भ किया। वे अस्त्र-शस्त्र-विद्या में निपुण होने की चेष्टा करते रहे। फ़ारसी भाषा के सीखने तथा हिन्दू जाति के इतिहास के मनन करने में वे अपना अधिक समय बिताने लगे। महात्मा गुरु गोविंदसिंह का स्वार्थत्याग और आत्मत्याग अपूर्व था। वे दृढ़ता, स्वार्थत्याग, आत्मत्याग और वीरता आदि सब गुणों की खान थे। मेज़िनी की भाँति सदैव उनको, चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो, अपने कर्त्तव्य-पालन की चिन्ता रहती थी। गैरीबाल्डी और महाराणा प्रतापसिंह की भाँति वे अपनी प्रतिज्ञा से टलनेवाले नहीं थे। वालेस और शिवाजी की भाँति वे निडर थे। शस्त्र और शास्त्र दोनों में योग्यता और निपुणता प्राप्त हो जाने पर उन्होंने अपने कर्त्तव्य की पूर्त्ति करना आरम्भ किया था। कहने का सारांश यह है कि वे क्रियाशील और विचारशील दोनों थे। विद्या और तप की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने सिक्खों को बाबा नानक के धर्म-सम्बन्धी गहन, गम्भीर विचार समझाना आरम्भ कर दिया था गुरु अर्जुन और गुरु हरगोविन्द दोनों की इच्छा थी कि सिक्खों में क्षात्र-धर्म का विस्तार हो, सिक्ख जाति युद्ध-सम्बन्धी विषयों की पूरी जानकारी प्राप्त करे, सिक्ख जाति सैनिक जाति हो जावे। परन्तु उन दोनों गुरुओं को अपने महान् उद्देश्य में पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उक्त दोनों गुरु जिस ढङ्ग से सिक्ख-समाज का सैनिक सङ्गठन करना चाहते थे उसमें वे सफल-मनोरथ न हुए। किन्तु महात्मा

गोविन्दसिंह ने अपने चारित्र्य-बल से और गुरु तेग़बहादुर की मृत्यु से सिक्खों में कुछ ऐसी विलक्षण, विद्युत्-शक्ति सञ्चारित कर दी थी जिससे सिक्ख महाबली हो गये थे। उनके महामन्त्र से सिक्ख-मण्डली सजीव हो उठी थी जिससे वह महापराक्रमी मुसलमानी साम्राज्य की शक्ति का उच्छेद करने में समर्थ हुई। हमारी समझ में इसके दो मुख्य कारण थे, (१) तो उनके पिता की शोचनीय मृत्यु हुई थी, (२) उन्होंने कठिन तपस्या की थी। यदि वे संसार के तुच्छ सुखों में फँसे रहते तो इसमें सन्देह है कि वे अपने महाव्रत में सफल होते या नहीं। सांसारिक ऐश्वर्य उनको अपने कठिन व्रत से हटा नहीं सका। गृहस्थ होने पर भी वे पूरे संन्यासी थे। जिस भाँति महाराणा प्रतापसिंह ने चित्तौर के उद्धार के लिए अपने समस्त सुखों पर लात मार दी थी, उसी भाँति गुरु गोविन्दसिंह ने अपने देश की दुर्दशा के कारण अपनी सब सम्पत्ति सतलज नदी में फेंक दी।

एक समय गुरु गोविन्दसिंह के एक भक्त सिक्ख ने सिन्धु देश से बहुमूल्य बड़े सुन्दर कङ्गन लाकर दिये। पहले तो गुरु गोविन्दसिंह ने उन दोनों कङ्गनों को लेना स्वीकार ही नहीं किया; परन्तु अन्त में सिक्खों के विशेष आग्रह करने पर वे उन कङ्गनों को हाथ में पहरने को लाचार हुए। किन्तु थोड़ी देर के बाद ही उन्होंने पास ही नदी में एक कङ्गन फेंक दिया। शिष्य ने गुरु के हाथ को कङ्गन से सूना देख-

कर उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, वह जल में गिर पड़ा है। इस पर शिष्य ने एक ग़ोतेख़ोर को बुलाया और कहा कि यदि उस कङ्कन को निकाल लाओगे तो पाँच सौ रुपया इनाम दूँगा। ग़ोतेख़ोर से इतना कहकर, गुरु से बड़ी भक्तिपूर्वक उसने निवेदन किया कि नदी में किस स्थान पर कङ्कन गिरा है, कृपया यह बात ग़ोतेख़ोर को बतला दीजिए। गुरु अपने शिष्य के इस अनुरोध से शिष्य और ग़ोतेख़ोर के साथ नदी-तट पर गये। वहाँ पर बड़े शान्त भाव से जल की ओर देखते हुए* दूसरा कङ्कन भी हाथ से उतार-कर उन्होंने फेंक दिया और कहा कि कहीं यहीं पर गिरा होगा। शिष्य को गुरु का ऐसा वैराग्य देखकर नवीन विचार स्फुरित हुए। उसने अपने सब प्रकार के भोग-विलासों को परित्याग कर सादगी से जीवन व्यतीत करना आरम्भ कर दिया। गुरु के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उनके चरित्र का बल ऐसा था कि जिससे लोग उनके बिना दाम के ग़ुलाम हो जाते थे। गुरु गोविन्दसिंह का हुक्म सिक्खों में विधाता की लकीर के समान था। जो कुछ वे आज्ञा करते थे, वह तत्काल पूरी की जाती थी।

पाठक यह न समझें कि सिक्ख लोग भय अथवा अन्य किसी दबाव से गुरु की आज्ञा का पालन करते थे। नहीं, सिक्खों

---

* M. C. Gregor ने एक-एक कङ्कन का मूल्य पचीस हज़ार रुपया लिखा है।

की गुरु गोविन्दसिंह के प्रति ऐसी ही आन्तरिक भक्ति थी। जिस समय वे अपने सिक्खों से कुछ कहते थे, उसको उस समय ही बिना किसी सङ्कोच के सिक्ख लोग पालन करने को तैयार हो जाते थे। सिक्खों की गुरु गोविन्दसिंह के प्रति कैसी भक्ति थी, इसका परिचय पाठकों को इस घटना से मिलेगा। दाला नामक एक व्यक्ति, जिसके यहाँ बहुत-से बहादुर सिपाही नौकर थे, प्रायः गुरु गोविन्दसिंह से बड़ी शेख़ी से कहा करता था - "यदि कोई लड़ाई का समय आया और मुझे आज्ञा हुई तो मैं अपने अगणित योद्धाओं के साथ युद्ध-क्षेत्र में सेवा करूँगा।" गुरु गोविन्दसिंह दाला के कथन की परीक्षा करना ही चाहते थे कि एक दिन उनके एक शिष्य ने एक तलवार, एक पिस्तौल और एक बन्दूक़ उनकी भेंट की। दाला भी वहीं पर मौजूद था। उन्होंने उससे अपने किसी नौकर को बुलाने के लिए कहा कि जिस पर बन्दूक़ का निशाना जाँचा जावे। गुरु की इस आज्ञा को सुनते ही दाला ने अपने डेरे में ऐसा नौकर ढूँढ़ा जिस पर बन्दूक़ का निशाना जाँचा जाय पर कोई नहीं मिला। उसके किसी नौकर ने निशाने से मरना स्वीकार नहीं किया। अपने नौकरों में आत्मिक बल का अभाव देख दाला लज्जावश गुरु के सामने सिर झुकाकर खड़ा हो गया। उन्होंने दाला की यह दशा देखकर अपने नौकर को यह आज्ञा दी कि जो सिक्ख समीप हो उससे यह हाल कहो। नौकर ने वैसा ही किया। एक

वृक्ष के नीचे दो सिक्ख अधूरी पोशाक पहने हुए बैठे थे। वे गुरुजी की आज्ञा सुनकर शीघ्र ही उनके सामने आ गये। उन दोनों में से प्रत्येक की हार्दिक इच्छा थी कि "गुरुजी का निशाना पहले मैं बनूँ।" गुरु ने कहा—"मुझे केवल एक आदमी की आवश्यकता है।" उन्होंने उत्तर दिया—"नौकर ने किसी सिक्ख के लिए आवाज़ दी थी, सो हम दोनों ने सुनी, और अब गुरुजी के चरणों में अपना प्राण समर्पण करने को तैयार हैं। इससे बढ़कर हमारा सौभाग्य क्या हो सकता है कि गुरुजी के हाथ से मारे जाकर सद्गति को प्राप्त हों।" गुरु गोविन्दसिंह को किसी के प्राण तो लेने थे ही नहीं, उन्हें तो केवल यही परीक्षा करनी थी कि कौन किसका साथ दे सकता है। बस, इतनी जाँच करके उन्होंने बन्दूक़ रख दी और दोनों सिक्खों को समझा-बुझाकर अलग कर दिया। सिक्खों में उनका यह प्रभाव देखकर दाला चकित हुआ और भक्तिपूर्वक गोविन्दसिंह के चरणों में लेट गया। इससे बढ़कर उनके उच्च चरित्र का क्या नमूना हो सकता है? ऐसी-ऐसी घटनाओं से ज्ञात होता है कि गुरु के अनुयायी गुरु को परमेश्वर का भेजा हुआ समझते थे।

गुरु गोविन्दसिंह ने हिन्दू समाज की, विशेषत: सिक्ख-समाज की, बिखरी हुई शक्तियों को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। कहते हैं, उन्होंने पहले कुछ अपने अनुयायियों को एक ब्राह्मण पण्डित के पास संस्कृत पढ़ने के लिए भेजा।

उसने उन लोगों को ब्राह्मण न होने के कारण संस्कृत पढ़ाना स्वीकार नहीं किया। यह बात गुरु को बहुत बुरी लगी। वे सोचने लगे कि जब तक जाति-पाँति का मिथ्या अहङ्कार दूर न किया जायगा तब तक सिक्ख-समाज में एकता और राष्ट्रीय भाव उत्पन्न न होंगे। उन्होंने कहा कि सिक्ख-समाज में छुटाई-बड़ाई का ध्यान न रखना चाहिए, सब लोग समान हैं, सब भाई हैं। चारों जातियाँ समान हैं। जिस तरह चूना, कत्था, सुपारी और पान चारों के मिलने से पान स्वादिष्ठ होता है, उसी तरह चारों जातियों से समाज का सङ्गठन होता है। इस तरह उन्होंने सिक्ख-समाज में से छोटे-बड़े का भाव मिटा दिया। यह उपदेश करके ही गुरु गोविन्दसिंह चुप नहीं हुए, उन्होंने सब श्रेणियों के मनुष्यों को धर्म की दीक्षा देना आरम्भ कर दिया। सिक्ख धर्म की दीक्षा लेते समय प्रत्येक मनुष्य अमृत चखता था। एक दिन गुरु केशगढ़ पहाड़ी पर डेरा लगाये हुए पड़े थे। उन्होंने समस्त अनुयायियों को एकत्र कर उन्हें उपदेश दिया; और उपदेश की समाप्ति पर उन्होंने अपनी तलवार निकाल ली और चिल्लाकर कहा—"यह देवी अर्थात् खड्ग मुझसे एक सिर माँगती है। क्या कोई सिक्ख अपना सिर देवी को भेंट करने को तैयार है?" गुरु के इस कथन पर सारी सभा में सन्नाटा छा गया। किसी ने चूँ तक नहीं की, सिर्फ़ एक दयाराम नामक मनुष्य आगे बढ़ा। उसका हाथ पकड़कर गुरु अपने स्थान में ले गये, जहाँ पहले

से एक बकरा बँधा हुआ था। गुरु ने वीर दयाराम को डेरे में बैठा दिया और अपने हाथ से बकरे को मारकर उसके लोहू में भरी हुई तलवार हाथ में लेकर वे बाहर निकल आये और तलवार को हवा में चारों ओर घुमाकर बोले—"भाइयो, देवी एक और बलिदान की इच्छा करती है" इस पर एक और सिक्ख आगे बढ़ा। इसके बाद तीसरे, चौथे और पाँचवें सिक्ख बढ़े। गुरु अपने अनुयायियों की ऐसी दृढ़ और अभूतपूर्व भक्ति देखकर प्रसन्न हुए। वे उन पाँचों सिक्खों को जीते-जागते, स्वस्थ और प्रसन्न-मुख सभास्थल में लाये। इस पर उपस्थित जन-मण्डली को आश्चर्य हुआ। गुरुजी ने कहा कि यह बहुत अच्छा सगुन हुआ है। 'खालसा' की विजय निस्सन्देह होगी। वहाँ जितने सिक्ख बैठे थे वे सब गुरु की तलवार के सामने सिर देने के लिए लज्जित हुए।

जो लोग गुरु की तलवार के सामने सिर झुकाने को तैयार हुए थे उनमें से एक खत्री था। और बाक़ी वे लोग थे जिन को शूद्र कहा जाता है। पर गुरु ने उन्हें "पञ्ज प्यारा" कहकर पुकारा और उस रीति के अनुसार, जो उन्होंने सिक्खों को दीक्षा देने के लिए निकाल रक्खी थी, उन्हें दीक्षा दी। गुरु ने उन सबको एक से ही अधिकार और कर्त्तव्य बतलाये, और नये बन्धुत्व में सम्मिलित होने के चिह्न रूप उन सबने इकट्ठे बैठकर भोजन किया। पर गुरु के विचार यहीं तक सार्व-लौकिक समता के सम्बन्ध में नहीं थे। केवल अपने अनु-

यायियों के बीच की समता से ही वे सन्तुष्ट न हो सके थे। उनके सम्प्रदाय में नेता अथवा मुखिया के विशेष अधिकारों के लिए भी कोई स्थान नहीं था। उन्होंने अपने पहले "पञ्च प्यारे" शिष्यों से स्वयं दीक्षा ली थी। इसके थोड़े दिन पीछे ही गुरु ने अपने समस्त अनुयायियों की एक महासभा की और उसमें अपने नये सिद्धान्तों को सबके सम्मुख प्रकट किया। इस भाँति उन्होंने जाति-पाँति से होनेवाले पक्षपात को मिटाने और धर्म-सम्बन्धी सार्वलौकिक समता को स्थापित करने की चेष्टा की। इसके अतिरिक्त उन्होंने सिक्ख-समाज का सङ्गठन करने के लिए ये आज्ञाएँ और भी की थीं—

(१) समस्त सिक्खों के नामों का अन्त एक प्रकार से होगा, जैसा अब तक होता है।

(२) सबको एक प्रकार से ही दूसरे को अभिवादन करना होगा।

(३) ग्रन्थ साहब के अतिरिक्त किसी दूसरे बाह्य पदार्थ को सिर न नवाया जायगा।

(४) सिक्खों का मुख्य तीर्थस्थान अमृतसर होगा। सब श्रेणियों के सिक्खों को—चाहे ब्राह्मण हो, चाहे अन्त्यज—अमृतसर के तालाब में स्नान करने और हरि-मन्दिर में पूजा करने का अधिकार है।

(५) कोई सिक्ख कभी तम्बाकू न पीये, सब पगड़ी बाँधें और सब सदा निम्न-लिखित पाँच ककार अपने पास रक्खे—

अर्थात् केश, कंघा, कृपाण, कड़ा और कच्छ। इस भाँति गुरु ने सिक्ख-समाज में राष्ट्र-भाव उत्पन्न किये थे।

सिक्ख-समाज को एकता के सूत्र में आबद्ध करके, गुरु देश-शत्रुओं का समूल उच्छेद करने के उपाय सोचने लगे। पहले उन्होंने पहाड़ी स्थानों पर दो-तीन किले बनवाये, फिर उन्होंने अपने पिता की मृत्यु का बदला लेने की ठानी। इस समय सहस्रों व्यक्ति गुरु के साथ समर-क्षेत्र में जाने और उनकी पताका के नीचे मरने में अपना परम सौभाग्य समझते थे। उन्होंने पाँच सौ पठान नौकर रख लिये थे, जो गुरु की घुड़सवार सेना का एक भाग बन गये थे। पहले गुरु ने कई पहाड़ी राजाओं को एक सम्मिलित सेना से परास्त करके उनके गर्व को चूर्ण किया। तब पहाड़ी राजाओं ने गुरु से सन्धि कर ली और गुरु की शक्ति के भरोसे उन्होंने निष्क्रिय प्रतिरोध करना प्रारम्भ कर दिया और सम्राट् की सेवा में अपना वार्षिक कर भेजना बन्द कर दिया। इस समय औरङ्गज़ेब दक्षिण के युद्ध में व्यस्त था, इस कारण उसने कई वर्ष तक किसी राजा के साथ झगड़ा नहीं किया। किन्तु दक्षिण से लौटते ही औरङ्गज़ेब ने अपने कई सर्दारों के अधीन एक बहुत बड़ी सेना राजाओं से पिछले वर्षों का कर उगाहने के लिए भेजी। नादौन के निकट बादशाही सेना को राजाओं ने खालसा सेना की सहायता से परास्त कर दिया। इस पराजय से काँगड़ा के शासक दिलावर ख़ाँ को बड़ा क्रोध

आया। उसने स्वयं एक बड़ी सेना लेकर राजाओं पर आक्रमण किया और अपने पुत्र रुस्तम ख़ाँ को बहुत बड़ी सेना के साथ राजाओं की सहायता करने के अपराध में गुरु का दमन करने के लिए भेजा। रुस्तम ख़ाँ आनन्दपुर के बाहर डेरे लगाये पड़ा था। एक रात्रि को अत्यन्त वेग के साथ वर्षा हुई और आसपास के नालों में जल इतना चढ़ आया कि शाही सेना के बहुत-से सैनिक बह गये। इस कारण रुस्तम ख़ाँ को शीघ्रता से लौटना पड़ा। जब औरङ्गज़ेब ने ये सब समाचार सुने तब आग-बबूला होकर उसने शाहज़ादा मुअज्ज़म को पञ्जाबी राजाओं से कर वसूल करने तथा विद्रोहियों को दण्ड देने के लिए भेजा। लाहौर पहुँचकर शाहज़ादे ने गुरु तथा राजाओं को दण्ड देने के लिए मिरज़ा बेग के अधीन एक सेना भेजी। इस सेना को भी सफलता प्राप्त नहीं हुई, जिससे शाहज़ादा बड़ा निराश और क्रोधित हुआ। अब उसने स्वयं युद्ध-क्षेत्र में प्रवेश करने का सङ्कल्प किया। किन्तु शाहज़ादे का मन्त्री नन्दलाल गुरु के अनुयायियों में से था। उसने शाहज़ादे को गुरु की ओर से समझा-बुझा दिया। इससे गुरु तो बच गये, परन्तु शाही सेनापति मिरज़ा बेग ने राजाओं का दमन किया। उसने राजाओं को बड़ी-बड़ी कठोर यन्त्रणाएँ दीं, उनके गाँवों में आग लगवा दी, सैकड़ों को बन्दी कर दिया। दूसरों को शिक्षा देने के लिए उनके सिर आदिक मुँड़वाकर, मुँह काले कर, गधों पर चढ़ा

समस्त देश में फिरवाया। भला फिर राजाओं की क्या ताब थी कि ऐसी-ऐसी यन्त्रणाएँ प्राप्त होने पर भी ठहरते। उन्होंने खुल्लम-खुल्ला बड़ी बुरी तरह से मुआफ़ी माँगी और पिछला जो कुछ राजकर बाक़ी था सब चुका दिया। इसके पश्चात् गुरु ने राजाओं को फिर जातीयता के नाम पर उभारना चाहा था, पर वे मिरज़ा बेग के अत्याचारों से इतने भयभीत हो गये थे कि उनको फिर शाही सेना से मुक़ाबला करने का साहस नहीं हुआ। उन्होंने गुरु की बात पर ध्यान नहीं दिया। गुरु ने पुनः अपने अनुयायियों को पहाड़ी रियासतों पर छोड़ दिया। परिणाम यह हुआ कि सिक्खों ने पहाड़ी राज्यों में लूट-खसोट आरम्भ कर दी। राजाओं को बड़ी-बड़ी कठोर यन्त्रणाएँ मिलने लगीं। उन्होंने फिर एक बार आपस में सन्धि करके बीस हज़ार योद्धाओं सहित गुरु का मुक़ाबला किया। आनन्दपुर के पास लड़ाई हुई। राजाओं की सम्मिलित सेना गुरु की सेना के सामने ठहर न सकी। खालसा सेना से परास्त होकर पहाड़ी राजाओं ने बादशाह औरङ्गज़ेब की सेवा में एक प्रार्थना-पत्र भेजा, जिसमें लिखा था कि "गुरु ने राजत्व के चिह्न धारण कर लिये हैं और वे अपने को सच्चा बादशाह कहते हैं।" इस प्रार्थना-पत्र पर औरङ्गज़ेब ने सरहिन्द के सूबेदार को यह आज्ञा दी कि "तुम स्वयं जाकर गुरु से युद्ध करो और उन्हें दण्ड दो।" औरङ्गज़ेब की इस आज्ञा के कारण सरहिन्द के शासक ने एक प्रबल सेना लेकर

गुरु पर आक्रमण किया। सारे पहाड़ी राजाओं ने भी सरहिन्द के हाकिम का साथ दिया। दोनों ओर से घमासान युद्ध होने लगा। सिक्खों ने इस युद्ध में अपनी अभूतपूर्व वीरता का परिचय दिया। किन्तु शत्रुओं की प्रबल सेना से मुट्ठी भर सिक्ख कब तक जूझते। दो दिन के लगातार युद्ध के पश्चात् सिक्ख लोग युद्ध में ठहर न सके और गुरु को आनन्दपुर के क़िले में आश्रय लेना पड़ा। वहाँ उन्होंने अपने आपको बन्द कर लिया। दुर्ग में पहुँचकर गुरु शत्रुओं से घिर गये। शाही सेना दुर्ग को चारों ओर से घेरे पड़ी रही और बाहर से दुर्ग के भीतर आना-जाना सर्वथा बन्द हो गया।

गुरु के इस भाँति घिर जाने पर शाही सेना के सेनापतियों ने गुरु के पास पैग़ाम भेजा—"शाही सेना का मुक़ाबला छोड़कर बादशाह की अधीनता स्वीकार कर लो। इसी में भला है। अपना धर्म परित्याग करके इस्लाम मत को ग्रहण कर लो।" जिस समय शाही सेना के दूत ने ये बातें बढ़ाकर गुरु के सामने कही थीं उस समय गुरु का बड़ा बेटा अजीतसिंह वहीं पर बैठा हुआ था। दूत की बातों पर उसका ख़ून खौलने लगा; उसने शीघ्र ही म्यान से तलवार निकालकर दूत से कहा—"बस, अब इस प्रकार का और भी कोई धृष्टता का शब्द गुरु के सामने निकाला तो तेरा सिर धृष्टता के अपराध में अभी काट लूँगा और तेरे शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा।"

अजीतसिंह के शब्दों को सुनकर दूत क्रोध के मारे शाही कैंप में चला आया। गुरु जय-पराजय के लिए नहीं लड़ रहे थे, वे तो धर्म के लिए लड़ रहे थे। उन्होंने मुग़लों की अधीनता स्वीकार करके अपने उच्च सिद्धान्तों को विसर्जन करना अथवा अपनी जाति का सदैव के लिए पराधीनता की बेड़ी में जकड़ना उचित नहीं समझा। इसलिए उन्होंने अपने पुत्र के कथन का खण्डन नहीं किया। गुरु ने आक्रमण करनेवालों के आक्रमण का उत्तर दिया। विशाल सेना के सामने थोड़े से सिक्ख कब तक लड़ सकते थे। क़िले में घिर जाने से भोजन आदि की सामग्री भी नहीं पहुँच सकती थी। इससे सैनिकों को विशेष कष्ट होने लगा। लोग गुरुजी से अधीनता स्वीकार करने के लिए कहने लगे। गुरुजी ने उन्हें बहुत समझाया, पर उनके सब साथी भाग गये, केवल उनके ४५ श्रद्धालु अनुयायी उनके साथ दुर्ग में रहे। किसी तरह का अपना उपाय चलता न देखकर और अन्न-जल बिना प्राण देने की अपेक्षा गुरु गोविन्दसिंह एक अँधेरी रात्रि में अवसर पाकर क़िले के बाहर निकले। उन्होंने यथाशक्ति दौड़कर चमकौर के दुग तक पहुँचने की चेष्टा की, पर यह भेद खुल गया। स्वयं ख़्वाजा मुहम्मद तथा नाहर ख़ाँ के अधीन कुछ सेना ने उस दुर्ग तक गुरु का पीछा किया। गुरु के मुट्ठी भर भक्त अनुयायियों ने अन्त समय तक युद्ध किया। इस युद्ध में उनके ज्येष्ठ पुत्र अजीतसिंह तथा जोकरसिंह और उनकी माता सुन्दरी का वध हुआ। स्वयं गुरु ने बड़ी वीरता

से युद्ध किया और अपने हाथों से नाहर ख़ाँ को मार डाला और ख़्वाजा मुहम्मद को घायल कर दिया। पर इस युद्ध में गुरु को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। उन्हें भेष बदलकर कई स्थानों में भ्रमण करना पड़ा।

इस प्रकार वे उस सङ्कट के समय बचकर मालवा की ओर चले गये। इस युद्ध के कारण गुरु के चारों लड़के मारे गये, पर इन सब आपत्तियों से भी वे अपने कर्त्तव्य से डिगे नहीं। जिस तरह महाराणा प्रतापसिंह ने घास की रोटी खाने पर भी सम्राट् अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की थी, उसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह ने भी अनेक कष्ट सहकर भी सम्राट् औरङ्गज़ेब के सामने अपना मस्तक नहीं नवाया। अपने चारों लड़कों के मारे जाने पर भी, उन्होंने जो व्रत ग्रहण किया था उसका परित्याग नहीं किया। गुरु गोविन्दसिंह की जीवनी से बड़ी भारी शिक्षा यह प्राप्त होती है कि कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति के सामने सब सङ्कट तुच्छ हैं। जो मनुष्य अपना कर्त्तव्य पालन करता है वह मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिसने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया है वही मृत्यु से हारा है। कर्त्तव्य-परायण व्यक्ति विघ्न-बाधाओं से नहीं घबराते हैं। आँखों के तारे, दुलारे चारों पुत्रों की मृत्यु हो जाने पर भी गुरु गोविन्दसिंह शोक से अधीर नहीं हुए। वे पहले के समान कर्त्तव्य-कर्म में जुटे रहे। पहले के समान ही दत्तचित्त होकर वे अपना कर्त्तव्य पालन करने को तैयार

हुए। गुरु गोविन्दसिंह के अलौकिक साहस की प्रशंसा मित्र ही नहीं शत्रु भी करते थे। कहते हैं कि बादशाह औरङ्गज़ेब गुरु गोविन्दसिंह के इस अपूर्व एवं अलौकिक साहस पर मोहित हो गया था। उसने गुरु गोविन्दसिंह को अपने यहाँ बुलाने की चेष्टा की, किन्तु वे औरङ्गज़ेब की कपट नीति को समझ गये थे, इसलिए बार-बार उसके बुलाने पर भी नहीं गये। उन्होंने बड़ी घृणा के साथ उत्तर दिया था—"मैं बादशाह का कभी किसी प्रकार विश्वास नहीं कर सकता। इस समय भी खालसा लोग बादशाह के पहले अपराधों का बदला लेंगे।" इसके अनन्तर उन्होंने बाबा नानक के धर्म-संस्कार, अर्जुन तथा तेग़बहादुर की शोचनीय मृत्यु तथा पुत्र-हीन होने का हाल वर्णन कर लिखा—"मुझे इस संसार के किसी भोग-विलास की इच्छा नहीं है। मैं तो धैर्यपूर्वक मृत्यु की बाट देख रहा हूँ। राजाओं के राजा सबसे बड़े उस बादशाह परमेश्वर के अतिरिक्त मुझे किसी का भय नहीं है।" ऐसा कोरा जवाब पाकर भी औरङ्गज़ेब गुरु गोविन्दसिंह से मिलने को तैयार हुआ और उसने आग्रहपूर्वक उनको दिल्ली आने के लिए लिख भेजा। गुरु गोविन्दसिंह औरङ्गज़ेब से मिलने को तैयार भी हुए किन्तु दिल्ली के पास पहुँचते ही उनको ज्ञात हुआ कि मुग़ल-सम्राट् औरङ्गज़ेब की मृत्यु हो गई है। कई इतिहास-लेखकों ने लिखा है कि औरङ्गज़ेब के उत्तराधिकारी बहादुरशाह ने उनके साथ प्रेमपूर्वक बर्ताव भी किया था। कोई-कोई कहते

हैं कि दक्षिण में गुरु गोविन्दसिंह बादशाह के साथ गये भी थे और बादशाह ने उन्हें सेना में एक उच्च पद भी दिया था। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि ज़बरदस्त बादशाह औरङ्ग-ज़ेब की सलतनत को ज़वाल पहुँचानेवाले शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह ही थे। गुरु गोविन्दसिंह ने सिक्खों में ऐसी अग्नि प्रज्वलित कर दी थी जो उनके पीछे भी नहीं बुझी। गुरु गोविन्दसिंह की मृत्यु के पश्चात् सिक्खों ने अनेक कष्ट सहे परन्तु वे अपने उद्देश्य से पीछे नहीं हटे।

गुरु गोविन्दसिंह का जीवन-प्रदीप सन् १७०८ में बुझ गया। उनका देहान्त ४८ वर्ष के अपूर्ण वय में गोदावरी के तट पर नादर स्थान में हो गया। गुरु की मृत्यु का कारण यह बतलाया जाता है कि गुरु शान्ति के साथ दक्षिण में अपना समय व्यतीत कर रहे थे कि एक दिन दो पठान लड़कों ने अपने पिता का बदला लेने के लिए गुरु के पेट में दो छूरियाँ भोंक दीं।

दोनों लड़के पकड़ लिये गये, पर गुरु ने दोनों को यह कहकर क्षमा कर दिया कि* उन्होंने केवल अपने बाप की मृत्यु का बदला लिया है। गुरुजी के घाव सिलवाये गये। वे अच्छे भी हो गये थे पर थोड़े दिन पीछे वे एक बाण की परीक्षा कर रहे थे कि उसी समय उनका देहान्त हो

---

* लड़कों के बाप को गुरु ने किसी समय मार डाला था। पर उन्होंने लड़कों का लालन-पालन किया था।

गया। सच पूछिए तो गुरु गोविन्दसिंह ने इस देश के निमित्त पूर्णाहुति दी। आज गुरु गोविन्दसिंह को मानव-लीला संवरण किये हुए बहुत दिन हो गये हैं, परन्तु देश और धर्म की सेवा करने के कारण वे आज भी जीवित हैं। उनके अनुकरणीय जीवन से अनेक शिक्षाएँ प्राप्त हो सकती हैं।

९—अथेंस का टाइमन

[बा० गङ्गाप्रसाद, एम० ए०]

अथेंस नगर में एक बड़ा धनाढ्य और उदार-हृदय रईस टाइमन रहता था। उसकी दानशीलता का कुछ पार न था। रात-दिन दान करने में संलग्न रहना ही उसका काम रहता था। उसके पास धन की कोई कमी नहीं थी। यह मालूम होता था कि कुबेर देवता उसका कोषाध्यक्ष मात्र है। परन्तु कोष से भी अधिक असीम उसका दान था। उसका सदाव्रत छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, सभी के लिए नित्य खुला रहता था। न केवल भिखारी लोग ही उससे सन्तृप्त होते थे किन्तु अथेंस के बड़े-बड़े अमीरों को भी उसके दान से बड़ा लाभ होता था। इस कारण अथेंस के सभी स्त्री-पुरुष, यहाँ तक कि राजसभा के सभ्यगण तक, टाइमन से मित्रता रखते और नित्य उसकी प्रशंसा तथा स्तुति किया करते थे।

दान करने में टाइमन को अधिकारी या अनधिकारी का कुछ भी विचार नहीं था। सभी प्रकार के लोग उसके धन को काम में लाते थे। को कवि या ग्रन्थकार यदि किसी पुस्तक तथा काव्य को बनाता और साधारण पुरुषों में उसकी बिक्री न होती तो उसके लिए धन-प्राप्ति का एक सीधा-सादा उपाय यह था कि वह पुस्तक का समर्पण टाइमन को कर देता था। उसका तत्काल फल यह होता था कि टाइमन उसको बड़ा भारी पुरस्कार देता; इसके अतिरिक्त उस पुरुष के लिए टाइमन का गृह-द्वार सदा के लिए खुला रहता था कि जब चाहे वह आकर अच्छे-अच्छे और स्वादिष्ठ भोजनों से अपने को तृप्त करे। इस प्रकार बहुत-से अयोग्य ग्रन्थकार भी टाइमन की कृपा से तर जाते थे। कोई धूर्त्त चित्रकार ऐसी ही किसी तसवीर को खींच-कर धनाढ्य टाइमन की सम्मति लेता तो चाहे वह तसवीर टाइमन के पसन्द होती या न होती परन्तु वह उसी समय दूना या तिगुना मोल देकर उसको ख़रीद लेता। यदि किसी जौहरी के पास कोई बहुमूल्य हीरा होता या किसी बज़ाज के पास कोई ऐसा उत्तम कपड़ा होता जिसका लनेवाला अथेंस भर में न निकलता तब वह उसको लार्ड टाइमन की सेवा में उपस्थित करता था और टाइमन उसके दामों से भी अधिक धन देकर उसको मोल ले लेता था।

इस प्रकार टाइमन का घर बहुत-सी अनावश्यक वस्तुओं से भर गया। चारों ओर से लोग उसके घर में आने लगे।

प्रतिभा-शून्य कवि, सौन्दर्य-बोध-हीन चित्रकार, धूर्त आलसी पुरुष, ख़ुशामदी धनी तथा निर्धन स्त्री-पुरुष, सभी टाइमन के समीप उपस्थित होने लगे। वे नित्य टाइमन की प्रशंसा करके उसका धन ठगा करते और कोई-कोई तो उनमें से यहाँ तक कहा करते थे—"लार्ड टाइमन, आप तो हमारे लिए ईश्वर-सदृश हैं। आपके ही अनुग्रह तथा करुणा से हम लोगों का जीवन स्थित है। नहीं नहीं, यह निर्मल वायु भी, जिसको सूँघकर हम जीवित रहते हैं, आपकी ही कृपा का फल है।"

प्रति दिन नाना प्रकार के पुरुष टाइमन की सेवा में आया करते थे। उनमें से बहुत-से तो ऐसे युवक थे जिनके पिता-माता ने बहुत धन छोड़ा था परन्तु जिन्होंने विषयासक्ति के कारण अपना सब कुछ नष्ट कर दिया था और अब बिलकुल निर्धन होकर टाइमन के सिर खाते थे। कई ऐसे थे जिनको ऋण न चुकाने के कारण कारागृह में जाना पड़ा था और दानी टाइमन ने जिनको बड़े अनुग्रह से छुड़ा लिया था। इनके पास थी तो फूटी कौड़ी तक नहीं परन्तु इनका स्वभाव ऐसा ख़र्चीला था मानों उनके पास बहुत बड़ा कोष है। ये लोग टाइमन के धन पर स्वत्व पाकर उसे दोनों हाथों से उलीचते थे। ऐसे पुरुषों में एक मनुष्य वैण्टीडियस भी था। इसे अभी, थोड़े दिन हुए, टाइमन ने तीन हज़ार रुपये देकर छुड़ाया था। यह नित्य टाइमन की भोजन-शाला में ही खाना

खाया करता था। क्योंकि टाइमन का सिद्धान्त यह था कि किसी मनुष्य को आपत्ति से मुक्त करके उसका पालन-पोषण भी अवश्य करना चाहिए। टाइमन की इस अद्भुत दान-शक्ति की कथा देश-देशान्तर में फैल गई और बहुत से दुष्ट लोगों ने टाइमन के धन का अपहरण करने का एक नया उपाय निकाला अर्थात् किसी तुच्छ वस्तु को टाइमन की भेंट कर देते और टाइमन उसके बदले उनको बहुत कुछ धन दे डालता। यदि इन लोभी मनुष्यों को पता लग जाता कि टाइमन ने किसी वस्तु को पसन्द किया है तो वे अवश्य कहीं न कहीं से लाकर उसको टाइमन की सेवा में उपस्थित कर देते थे क्योंकि उनको पूरी आशा रहती थी कि इस व्यापार में उनको अवश्य लाभ होगा। इस प्रकार एक धनाढ्य पुरुष लूसियस ने एक दिन चार सफ़ेद रङ्ग के घोड़े टाइमन के पास भेजकर कहला भेजा कि एक दिन महाराज श्वेतवर्ण घोड़ों की प्रशंसा कर रहे थे। इसलिए मैं प्रेम के मारे इनको सेवा में भेट करता हूँ। लोक्यूलस नामी एक और पुरुष ने कुछ शिकारी कुत्ते टाइमन की भेंट किये। भोला-भाला टाइमन इन बातों को सच्ची मित्रता का चिह्न समझकर भेट को स्वीकार कर लेता था। उसे स्वप्न में भी यह शङ्का न होती थी कि इन बनावटी मित्रों के दिल में कपट-छुरी चल रही है। वह इतने मित्रों से अपने को युक्त पाकर बहुत ख़ुश होता था और इन भेंटों के बदले किसी को हीरा, किसी को पन्ना, किसी को मणि, किसी को मुक्ता देकर

उनको बिदा कर देता था। इस प्रकार वे स्वार्थी मनुष्य अपने मूल को ब्याज दर ब्याज सहित ले जाते थे।

कभी-कभी तो लोग देखते-देखते आँखों में धूल डालते थे। जो कोई वस्तु टाइमन के पास देखते उसी की प्रशंसा करने लगते। यदि टाइमन किसी चीज़ को महँगा भी ख़रीदता था तो भी वे उसकी प्रशंसा करते और कहते कि देखिए, महाराज कैसे बुद्धिमान् हैं कि इतनी सस्ती चीज़ ले ली। इस प्रकार सरल-हृदय टाइमन प्रशंसा के मारे मुग्ध हो जाता था। कोई-कोई तो इससे भी अधिक चातुर्य दिखलाते थे। एक दिन एक लोभी धनाढ्य पुरुष ने टाइमन के एक घोड़े की बड़ी प्रशंसा की। टाइमन ने सोचा कि देखो, यह घोड़ा इस मनुष्य को पसन्द है, और कोई मनुष्य ऐसा नहीं है जो जिस चीज़ की प्रशंसा करे उसको लेना न चाहता हो। इसलिए ऐसा विचार करके टाइमन ने वह घोड़ा उस प्रशंसा करनेवाले मनुष्य को भेंट कर दिया। इस प्रकार टाइमन अपने सदृश सब मनुष्यों को समझता था। जिस प्रकार वह अन्य लोगों से मित्रता करता था और उनके दुःख में सहानुभूति दिखाता था उसी प्रकार वह समझता कि अन्य मनुष्य भी करते होंगे। दान करने में उसकी ऐसी प्रबल इच्छा थी कि यदि उसके पास दस राज्यों के बराबर भी राज्य होता और कोई आकर उसको माँगता तो भी वह उसे झट दान कर देता।

टाइमन के इस अपार द्रव्य को खानेवाले केवल दुष्ट और स्वार्थी लोग ही न थे किन्तु कभी-कभी योग्य मनुष्यों को भी उससे सहायता मिलती थी। एक समय टाइमन का एक नौकर अथेंस के एक धनी पुरुष की कन्या से विवाह का प्रार्थी हुआ। वह कन्या भी उससे प्रीति करती थी परन्तु उसका पिता इसको निर्धन समझकर इससे विवाह करना नहीं चाहता था। नौकर ने लज्जा के मारे अपने स्वामी को इस बात की सूचना न दी। लेकिन एक दिन उस लड़की का पिता टाइमन के पास आया और कहने लगा कि महाराज, आप अपने नौकर को रोक लीजिए; यह मेरी बेटी से अनुराग प्रकट करता है और मैं इस दरिद्र से उसका विवाह करना नहीं चाहता। टाइमन ने बहुत-सा धन इस नौकर को देकर धनवान् बना दिया और इस प्रकार उसकी शादी उस कन्या से हो गई।

यद्यपि ऐसे योग्य पुरुषों को भी कभी-कभी टाइमन से लाभ पहुँच जाता था, परन्तु बहुधा ऐसे ही लोग घिरे रहते थे जो छल-कपट से स्वार्थ-सिद्धि करना चाहते थे। टाइमन को इनके प्रेम में कुछ भी शङ्का न होती थी और नित्य साथ मिलकर खाना-पीना और नाच-रङ्ग हुआ करते थे। वह अपने मन में कहा करता था कि देखो, संसार में मुझसे बढ़कर सुखी भी कोई मनुष्य होगा जिसके हित के लिए इतने लोग अपने प्राण देने के लिए तैयार हैं! क्योंकि टाइमन के

दु:ख में इनका मुख मलिन हो जाता था। परन्तु इनके हृदय की बात कौन जाने!

किसी के दिन एक-से नहीं रहते। जो आज धनी है वह अवश्य एक दिन निर्धन होगा। उसका कोष चाहे कितना ही अथाह क्यों न हो, परन्तु यदि व्यय आय से अधिक हो तो एक न एक दिन उसका अन्त अवश्य होता है। ख़र्च होते-होते टाइमन का सब धन समाप्त हो गया। परन्तु, अभी तक टाइमन की आँखें न खुलीं और वह सचेत न हुआ। कौन ऐसा था जो उसको उसकी वास्तविक दशा से सूचित करता! स्वार्थी मित्र-मण्डली ऐसा क्यों करने लगी थी। क्योंकि उनका तो इसी में भला था कि टाइमन आँखें मींचकर ख़ूब धन लुटावे। केवल एक ही सच्चा मित्र था जिसका नाम फ़्लेवियस था और जो उसका कोषाध्यक्ष था। उसने अपने कोष को इस प्रकार क्षीण होता हुआ देखकर अपने स्वामी से कुछ प्रार्थना की कि महाराज अपना हिसाब-किताब देखिए और आय के अनुकूल व्यय कीजिए।

परन्तु टाइमन ने उसकी एक बात भी न सुनी। जब वह हिसाब लाता, टाइमन इधर-उधर की बातें बनाकर उसे टाल देता था। धनी पुरुष को अपने धन के क्षय होने की कथा कभी अच्छी नहीं मालूम होती। वह अपनी शोचनीय अवस्था को सुनना नहीं चाहता था। कोषाध्यक्ष ने कई प्रकार से

अपने स्वामी को इस बात की सूचना देनी चाही परन्तु कभी वह अपने परिश्रम में सफल नहीं हुआ।

जब फ़्लैवियस देखता था कि टाइमन के घर में इधर-उधर के दुष्ट लोग एकत्रित होकर आनन्द मना रहे हैं और मद्य इधर-उधर बह रहा है तथा चारों ओर दीपक जल रहे हैं तब उस बेचारे को बड़ा कष्ट होता और वह एकान्त में जाकर बहुत रोता था; क्योंकि उसे मालूम था कि अब शीघ्र वह दिन आने-वाला है जब टाइमन के पास फूटी कौड़ी भी न रहेगी। और ये सब मित्र, जो आज मुफ़्त माल खा-खाकर आनन्द भोग रहे हैं, जाड़ों में मक्खियों के समान उड़ जायँगे। वह कहा करता था—"हाय! आज यहाँ नाच-रङ्ग हो रहा है; कल यही घर धन की समाप्ति पर सुनसान हो जायगा। आज इतने लोग ठूस-ठूसकर पेट भर रहे हैं; कल गृह के स्वामी को भी उपवास करना पड़ेगा।"

वास्तव में फ़्लैवियस का कहना सच हो गया। वह दिन शीघ्र आ गया जब टाइमन को मजबूर होकर अपनी आँखें खोलनी पड़ीं और अपना हिसाब देखना पड़ा। एक दिन टाइमन ने फ़्लैवियस को आज्ञा दी कि जिस प्रकार हो सके, हमारी सब जायदाद बेचकर धन इकट्ठा करो। परन्तु फ़्लैवियस ने ठण्ढी साँस भरकर कहा—

"महाराज! आपकी जायदाद तो कभी की बिक गई। उसी से तो आज तक ख़र्च चला है। मैंने आपसे बहुधा

प्रार्थना की कि महाराज ! ध्यान दीजिए, ध्यान दीजिए परन्तु आपने हमेशा मुझे टाल दिया। अब भविष्यत् बड़ी जल्दी ऊपर आ रहा है। ऋण इतना अधिक हो गया है कि अगर आपकी सारी सम्पत्ति बिक जावे तो भी ऋण चुकाने के लिए काफ़ी नहीं हो सकती।"

टाइमन—अरे ! तुम क्या कहते हो ? मेरी जायदाद तो लैसीडेमन तक विस्तृत थी।

फ़्लैवि०—श्रीमहाराज ! दुनिया तो आख़िर अन्तवाली है। यदि सारी दुनिया आपकी होती और आप एक साँस में इसे देना चाहते तो एक साँस में उसकी समाप्ति हो जाती।

टाइमन—क्या सच कहते हो ?

फ़्लैवि०—यदि श्री महाराज को मेरे सत्य-व्यवहार या मित-व्यय पर विश्वास न हो तो बड़े दक्ष आदमियों से जाँच करा लीजिए। जब-जब मैंने आपके धन को नदी के प्रवाह की तरह बहते देखा है, मेरी आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी है।

टाइमन—बस-बस, फ़्लैवियस ! रहने दो।

फ़्लैवि०—आज रात को कितने व्यर्थ मनुष्यों ने आपके घर ठूस-ठूसकर खाया है। आज कौन ऐसा है जो टाइमन का सेवक न हो ? कोई कहता है 'लार्ड टाइमन,' कोई कहता है 'महान् टाइमन,' कोई कहता है 'प्रतिष्ठित

टाइमन' परन्तु ज्योंही वह धन समाप्त हो गया जो इस प्रशंसा को मोल लेता था त्योंही वे शब्द भी समाप्त हो गये जिनसे वह प्रशंसा बनती है।

टाइमन—मुझे शिक्षा मत दो। मैंने अपना धन किसी कुकर्म में नहीं लगाया। यद्यपि मैंने ख़र्च करने में बुद्धिमत्ता का प्रयोग नहीं किया परन्तु किसी पाप-कर्म में इसको नहीं लगाया। तुम रोते क्यों हो? क्या तुम समझते हो कि मुझे मित्रों की कुछ कमी है? विश्वास रक्खो, यदि मैं अपने मित्रों से उधार लूँगा तो वे मुझे उतने ही प्रेम से धन प्रदान कर देंगे जिससे मैंने उनको दिया है।

फ़्लैवि०—ईश्वर करे आपके विचार सच्चे हों।

टाइमन—एक प्रकार से तो यह धनाभाव अच्छा ही है। क्योंकि अब मैं अपने मित्रों की मैत्री की जाँच करूँगा। तब तुमको अपनी भूल मालूम होगी। यद्यपि अब कोष में धन नहीं है, परन्तु मेरा वास्तविक धन तो मेरे मित्र हैं।

यद्यपि फ़्लैवियस को अपने स्वामी की बातों पर कुछ भी विश्वास नहीं आया परन्तु वह चुप हो रहा और टाइमन ने अपने नौकरों को एक-एक करके मित्रों के पास भेजा कि इस आड़े समय में काम आवें। परन्तु लोकोक्ति है कि 'जब तक कूँड़े में भात, तब तक मेरा तेरा साथ।' टाइमन के मित्र तो केवल भतखवा थे। उनकी मित्रता तो उसका धन उड़ाने के लिए थी। वे अपनी कौड़ी क्यों ख़र्च करने लगे! जो कुछ

फ़्लैवियस ने सोचा था वही हुआ। पहले-पहल तो टाइमन ने राज-सभा के सभ्यों से कहला भेजा कि आप कृपा करके मुझे रुपया भेज दीजिए। उसे भरोसा था कि उसी के धन से पले हुए ये लोग अवश्य ही इतना कष्ट उठाना स्वीकार करेंगे। परन्तु वहाँ से कोरा राजनैतिक उत्तर मिला। उन्होंने कहला भेजा कि हमें शोक है, महाशोक है कि ऐसे धनाढ्य और उदार पुरुष टाइमन को धन की आवश्यकता हुई और बड़े पुरुषों पर यह विपत्ति हो ही जाती है। परन्तु कोष में रुपया बिलकुल नहीं है और हमको राज-प्रबन्ध में भी कठिनाइयाँ पड़ रही हैं, अतएव हम कुछ सहायता नहीं कर सकते।

राजसभा का यह उत्तर सुनकर टाइमन को कुछ शोक तो हुआ परन्तु उसने अपने मन को धीरज दिया और कहने लगा कि अथेंस के राज-सभासद सदैव कृतघ्न रहे हैं और ये अपनी ही भलाई करनेवालों का गला घोंट रहे हैं। इसलिए इनसे सहायता की आशा करना व्यर्थ है परन्तु मेरे अन्य बहुत-से ऐसे मित्र हैं जो कृतज्ञता के अवतार हैं; वे मेरे लिए पसीने के स्थान पर रुधिर बहाने को भी उद्यत हैं, इसलिए उन्हीं से सहायता माँगनी चाहिए। अब टाइमन ने वैण्टोडियस नामी एक रईस के पास आदमी भेजा। यह वैण्टीडियस एक बार क़ैदख़ाने में पड़ चुका था और टाइमन ने बहुत-सा रुपया देकर इसे छुड़ाया था। इस समय वैण्टीडियस के पास बहुत धन था, क्योंकि अपने पिता की

मृत्यु के कारण बहुत बड़ी सम्पत्ति उसके हाथ लग चुकी थी। ऐसी अवस्था में उसे उचित था कि टाइमन की सहायता करता। परन्तु उचितानुचित का तो वहाँ प्रश्न ही न था। वैण्टीडियस ने सूखा उत्तर दे दिया।

अब लूकूलस की बारी आई। कहीं रात्रि को उसने स्वप्न में चाँदी का थाल देखा था। इसलिए ज्योंही उसे टाइमन के नौकर की सूचना दी गई, वह मारे ख़ुशी के फूल गया। उसने समझा कि अवश्य कुछ न कुछ टाइमन ने मेरे लिए भेजा है। परन्तु जब उसे पता लगा कि वस्तुतः धन की याचना की गई है तब शोक करने लगा—"देखो, मैंने कितनी बार टाइमन से कहा है कि ख़र्च कम करना चाहिए, लेकिन उसने कभी मेरी बात न मानी और जिस बात को मैं डरता था वही हुआ।"

वास्तव में लूकूलस का यह सफ़ेद झूठ था। उसने टाइमन को कभी ऐसी शिक्षा नहीं दी थी। उसका तो पेट ही टाइमन के भोजन से भरता था अब उसने आदमी को रिश्वत देकर यह समझाया कि टाइमन से कह देना कि लूकूलस घर में नहीं है। नौकर ने रिश्वत को ज़मीन पर फेंक दिया और बड़-बड़ाता हुआ टाइमन के पास चला आया।

एक और महाशय लूशियस भी ऐसे ही निकले। पहले तो उनको विश्वास ही न हुआ कि टाइमन का अपरिमित धन कभी चुक सकता है। परन्तु निश्चय हो जाने पर टालमटोल कर दी। जिस समय टाइमन का आदमी लूशियस के पास

पहुँचा उस समय लूशियस और तीन और आदमियों में ये बातें हो रही थीं—

लूशियस—लार्ड टाइमन बड़ा योग्य पुरुष है। वह मेरा सच्चा मित्र है।

१ ला आ०—मैं भी ऐसा ही समझता हूँ। यद्यपि मेरा उससे अधिक परिचय नहीं है, परन्तु मैंने साधारण लोगों से सुना है कि अब टाइमन के सुख के दिन बीत चुके और लक्ष्मी उसके हाथ से जा रही है।

लूशि०—नहीं नहीं! मैं नहीं मान सकता। उसे धन की क्या आवश्यकता?

२ रा आ०—मानिए मानिए! अभी लूकूलस के पास उसने धन की याचना की थी, परन्तु लूकूलस ने इनकार कर दिया।

लूशि०—क्या सच?

२ रा आ०—मैं कहता तो हूँ, उसने साफ़ इनकार कर दिया।

लूशि०—शोक शोक! यह सुनकर मुझे लज्जा आती है। हा दैव! ऐसे उदार पुरुष को इनकार! क्या यही कृतज्ञता है? यद्यपि मेरे ऊपर टाइमन ने थोड़ी-सी ही कृपा की है अर्थात् रुपया, जवाहरात, सोने-चाँदी के थाल आदि दिये हैं तथापि यदि मेरे समीप उसने आदमी भेजा होता तो मैं अवश्य इतना धन भेज देता।

परन्तु यह केवल बातों का ही जमा-ख़र्च था। दैवगति से उसी समय टाइमन का आदमी पहुँच गया। अब तो लूशियस के होश उड़ गये और वह सब कृतज्ञता की डींगें न जाने किधर चली गईं। आदमी से कह दिया कि कल मैंने सब रुपया जायदाद में लगा दिया, नहीं तो अवश्य इतना रुपया भेज देता। शोक है कि पहले मुझे सूचना न मिली।

अन्त में सैम्प्रोनियस साहब से सहायता की प्रार्थना की गई। ये महाशय भी टाइमन के कुछ कम ऋणी नहीं थे और उसकी मित्रता को बड़ी प्रबलता से प्रकाशित करते थे। पहले तो टाइमन के नौकर से सहायता का शब्द सुनते ही ये आग-बबूला हो गये और कहने लगे कि पहले-पहल मुझसे ही सहायता माँगने से क्या प्रयोजन! लूकूलस, लूशियस और वैण्टीडियस से क्यों न धन माँगा जाय, क्योंकि वे धनी हैं और इस योग्य हैं कि अपने एक शुभचिन्तक की भली भाँति सहायता करें। परन्तु जब नौकर ने सूचना दी कि महाराज, इन सबके पास हो आया हूँ और ये सहायता देने से किनारा काटते हैं तब तो सैम्प्रोनियस ने एक नई चाल चली जो उसके उदार भाव को भली भाँति सूचित करती थी। उसने उत्तर दिया—

"क्या इन तीनों ने इनकार कर दिया? और अब अन्त में मेरे पास आदमी भेजा गया है। इससे तो प्रकट होता है कि टाइमन को मुझसे बहुत कम स्नेह है। तभी तो मैं सबके

अन्त में पूछा गया। जब उसके मित्रों ने उसके रोग को असाध्य समझकर छोड़ दिया तब भला मैं ही क्या कर सकता हूँ? मुझे तो इस बात पर बड़ा क्रोध आता है। वस्तुतः टाइमन ने मेरा बड़ा अनादर किया है। यदि उसको मेरे ऊपर विश्वास होता तो सबसे पहले मुझसे ही प्रार्थना की गई होती। क्या उसने मुझे ऐसा नीच समझा कि अन्त में मुझसे पूछा गया! यदि वह मेरे विषय में ऐसा विचार रखता है तो ऐसा ही होगा। जो मेरा पूरा सम्मान नहीं करता वह मेरे धन से लाभ नहीं उठा सकता।"

पाठकगण! विचारिए तो सही कि सहायता माँगने में टाइमन ने सैम्प्रोनियस का क्या अनादर किया था? वास्तव में संसार ऐसे ही झूठे मित्रों से भरा हुआ है, जो समय पड़ने पर खिसक जाते हैं और सहायता तो क्या, मीठी बातें करना तक पसन्द नहीं करते। यही मित्र जो पहले टाइमन के उदार भाव और मित्रता की प्रशंसा करते नहीं थकते थे, अब इस निर्धनता की अवस्था में उस पर मूर्खता और व्यर्थ-व्यय का दोष लगाने लगे। जिस टाइमन के घर पर नित्य प्रति बड़े-बड़े आदमियों का जमघट रहा करता था वही टाइमन है और वही घर है, परन्तु धनाभाव के कारण कोई अब वहाँ नहीं जाता। कहाँ नित्य प्रति सहभोज हुआ करते थे और कहाँ क़र्ज़वाले लोग आकर टाइमन को तङ्ग करते हैं और अपना ऋण चुकाने के लिए आग्रह करते हैं। कोई कहता है कि मेरे

यहाँ से पाँच हज़ार का माल आया है, उसे अभी चुका दो। अब टाइमन वह शाह नहीं रहा जिसके नाम पर हज़ारों की चीज़ें लोग उठाकर दे दिया करते थे। अब टाइमन निर्धन और इसलिए बेईमान है। अब उस पर किसी को भरोसा नहीं। अब उसके ऊपर इतना ऋण है कि यदि एक रुपये के बदले वह अपने शरीर के रुधिर की एक-एक बूँद दे तो भी पर्याप्त न हो।

ऐसी शोचनीय और असाध्य अवस्था में एक बड़ा तमाशा हुआ। एक घड़ी के लिए फिर अथेंस के नर-नारी इस डूबते हुए सूर्य की अन्तिम चमक से चौंधिया गये। एक बार फिर टाइमन ने सहभोज का विज्ञापन दिया और छोटे-बड़े सभी लोगों को निमन्त्रित किया। अब तो लूशियस और लूकूलस आदि सभी आये। भला खाने में क्या आपत्ति। आपत्ति तो कृतज्ञता दिखाने में थी। इन निर्लज्जों को शर्म न आई कि जिस भले आदमी की विपत्ति में हम कल सूखा उत्तर दे चुके हैं उसके घर माल छकने के लिए कुत्ते की भाँति फिर दौड़े जाते हैं। वास्तव में यह तो कुत्ते से भी नीच कर्म था। कुत्ता कभी अपने स्वामी का साथ नहीं छोड़ता। क्या अच्छा हो कि मनुष्य में कुत्ते के समान कृतज्ञता हो।

टाइमन के घर पहुँचकर ये लोग बड़ी चापलूसी की बातें करने और शोक प्रकट करने लगे कि हाय हम अमुक-अमुक कारणों से अपने ऐसे अपूर्व मित्र की सेवा न कर

सके। सच तो यह है कि इन लोगों को टाइमन की दरिद्रता का विश्वास न हुआ। वे यह समझे कि हमारी मित्रता की जाँच की गई है। जब ये लोग पछता रहे थे तब टाइमन कह रहा था कि नहीं भाई, इन क्षुद्र बातों का विचार न करना चाहिए, ऐसा हो ही जाता है। मुझे तो इसकी याद भी नहीं रही। प्रथम तो गान हुआ और उसके पश्चात् खाना चुना गया। परन्तु यह खाना टाइमन की धनवत्ता की अपेक्षा निर्धनता को अधिक सूचित करता था। देखने के लिए तो अच्छी-अच्छी रकाबियाँ और प्यालियाँ रक्खी हुई थीं परन्तु उनमें मिठाई और षट्रस पदार्थों के बदले केवल गर्म पानी था। जब सब थालियाँ परोस गईं तब टाइमन ने लोगों से कहा—

"कुत्तो, प्यालियों को चाटो। क्योंकि तुम ऐसे ही भोजन के योग्य हो।"

पहले तो लोग अचम्भे में रह गये, परन्तु जब टाइमन उनको धूर्त, कृतघ्न इत्यादि शब्दों से सम्बोधित करने लगा तब तो सब लोग 'घबड़ाकर भाग निकले और टाइमन ने उनके ऊपर प्यालियाँ फेंकनी शुरू कीं। स्त्री और पुरुष सभी ऐसे भागे कि किसी की टोपी रह गई, किसी का गहना गिर पड़ा, किसी का कोट फट गया और कोई भीड़ में कुचल गया।

यह टाइमन का अन्तिम सहभोज था, क्योंकि अब उसे अथेंस क्या, समस्त मनुष्य-जाति से घृणा हो गई थी। अब

उसने नगर छोड़ दिया और जङ्गल में रहने लगा। अब वह ईश्वर से प्रार्थना करने लगा कि हे ईश्वर, तू अथेंस के नर-नारियों और बच्चों का, सभी का नाश कर दे; इन पर कोई ऐसी महामारी भेज दे कि समस्त नगरवासी उसकी भेंट हो जायँ और अपनी कृतघ्नता का फल पा जायँ।

टाइमन को मनुष्यों और उनके आचार-व्यवहार से ऐसी घृणा हो गई थी कि उसने अपने तन से कपड़े उतार दिये और जङ्गल के जानवरों के साथ रहने लगा। यदि कोई मनुष्य उसे दिखाई दे जाता तो वह मुँह छिपा लेता और वहाँ से भाग जाता। वह जानवरों के झुण्डों में फिरता, उन्हीं के समान आचार-व्यवहार करता, वन के कन्द-मूल खाता और नदियों का पानी पीकर जीवन व्यतीत करता था; क्योंकि अब उसका विचार था कि मनुष्यों की अपेक्षा जानवर अधिक कृतज्ञ और हानि-रहित होते हैं।

हा! कैसा घोर परिवर्त्तन हो गया। कहाँ वह धनी टाइमन, जिसको देखने से प्रत्येक मनुष्य को हर्ष होता था, और कहाँ वह नङ्गा टाइमन, जिसे मनुष्य-जाति से घृणा हो गई थी। अब वह ख़ुशामदी मित्रगण कहाँ? अब उसके नौकर-चाकर क्या हुए? अब ठण्डी हवा ही उसकी सेवा कर सकती थी। यदि बीमार हो जाता तो वन के नाले ही उसके लिए ठण्डा जल-रूपी औषध दे सकते थे। अब तो वन के जानवर ही आकर उसका हाथ चाटते और उससे प्रेम प्रकट करते थे।

एक दिन जब वह इस प्रकार अपने खाने के लिए जङ्गली वृक्षों की जड़ें खोद रहा था तब उसे एक भारी-सी चीज़ मिली जिसमें बहुत-से रुपये और मुहरें थीं। प्रतीत होता है कि किसी ने अपनी समस्त आयु की कमाई जमा करके किसी आपत्ति के समय में वहाँ दबा दी थी और या तो वह मर गया या रुपया लेना भूल गया। इस समय यदि टाइमन चाहता तो फिर बड़े ठाट से रह सकता था और अथेंस के कृतघ्न लोग फिर उससे प्रेम प्रकट कर सकते थे। परन्तु टाइमन तो झूठी दुनिया से छक गया था। उसे स्वर्ण विष से भी अधिक कड़वा मालूम होता था। पहले तो उसने चाहा कि इस धन को वहीं दबा दे परन्तु फिर सोचने लगा कि यह धन ही है जो संसार में अवगुण फैलाता है। इसी के कारण लोग चोरी करते और डाका मारते हैं, इसी के लिए एक दूसरे के रक्त का प्यासा हो जाता है, इसी धन की वजह से लोग आपस में लड़ते हैं।

जब वह इस प्रकार विचार में निमग्न हो रहा था तब उसे दूर से एक सेना आती दिखाई दी जो अल्सीबीडीज़ के संरक्षण में अथेंस नगर पर आक्रमण करने जा रही थी। यह अल्सी-बीडीज़ वास्तव में अथेंस का एक प्रसिद्ध पुरुष था जिसको उसके नगर-भाइयों ने तुच्छ-सी बात पर निकाल दिया था। अब अवसर पाकर उसने एक बड़ी सेना एकत्रित कर ली थी और अपने कृतघ्न देशवासियों को दण्ड देने जा रहा था। अल्सीबीडीज़ ने टाइमन को देखकर पूछा—तू कौन है?

टाइमन—तेरे समान एक पशु हूँ। सत्यानाश हो तेरा कि जिसके कारण मुझे फिर मनुष्य का मुँह देखना पड़ा।

अल्सी०—अरे तेरा नाम क्या है? मनुष्य होते हुए तुझे मनुष्यों से क्यों घृणा है?

टाइमन—मेरा नाम मनुष्यों से घृणा करनेवाला है। यदि तू कुत्ता होता तो भली बात होती; क्योंकि उस दशा में मैं तुझसे अधिक प्रेम कर सकता था।

अल्सी०—मैं तुझे जानता हूँ। पर तेरी यह दशा क्यों हुई?

टाइमन—मैं भी तुझे जानता हूँ और इससे अधिक जानना नहीं चाहता। जा! जा! और रुधिर की नदियाँ बहा दे। परन्तु देख (धन को दिखाकर) तेरी तलवार से अधिक नाश करने की शक्ति इस बुरे धन में है।

अल्सी०—टाइमन महाराज की यह अवस्था कैसे हो गई?

टाइमन—जिस प्रकार उस चन्द्रमा की होती है जिसमें देने के लिए प्रकाश नहीं है। परन्तु चन्द्रमा फिर बढ़ जाता है और मैं न बढ़ सका, क्योंकि मुझे प्रकाश प्रदान करने के लिए कोई सूर्य्य न मिला।

अल्सी०—श्री महाराज! मैं आपके साथ किस प्रकार मित्रता प्रकट करूँ?

टाइमन—जो मैं चाहता हूँ सो कर।

अल्सी०—आपकी क्या इच्छा है?

टाइमन—अभी यहाँ से चले जाओ।

अल्सी०—मैं आपका मित्र हूँ! मुझे आप पर तरस आता है।

टाइमन—मुझे तो तू कष्ट दे रहा है फिर तरस कैसा? मैं अकेला रहना चाहता हूँ।

अल्सी०—अच्छा प्रणाम! लो, यह थोड़ा-सा रुपया लो!

टाइमन—तू ही रख! मैं इसको खा नहीं सकता!

अल्सी०—जब मैं अभिमानी अथेंस को जीत लूँगा तब—

टाइमन—क्या तू अथेंस पर चढ़ाई कर रहा है?

अल्सी०—हाँ, और बिना कारण नहीं।

टाइमन—ईश्वर अथेंसवालों का तेरे हाथ से सत्यानाश करे और फिर तेरा भी।

अल्सी०—मेरा क्यों?

टाइमन—इसलिए कि दुष्टों को मारकर तू मेरे देश पर अधिकार करेगा! जा! जा! रुपया ले जा! जल्दी जा! और अथेंसवालों का सत्यानाश कर! किसी को मत छोड़ना! बच्चों पर तरस न खाना! क्योंकि इनकी मुसकुराहट से केवल मूर्ख लोग धोखा खा जाते हैं। अपने कान, आँख बन्द कर लेना और मार-मार के अतिरिक्त और कुछ न करना! देख, मेरे पास इतना धन है। इसे अपने सिपाहियों में बाँट दे और भले प्रकार नाश कर! यहाँ से जा। तेरा सत्यानाश हो!

अब अल्सीबीडीज़ तो धन लेकर चला गया और टाइमन पहले की तरह फिर उसी जङ्गली अवस्था में अपने दिन काटने

लगा। कुछ समय के पश्चात् एक दिन जिस खोह में वह रहा करता था उसके दरवाज़े पर एक भला आदमी आया। यह वही फ़्लैवियस था जिसने टाइमन को कई बार उसके व्यर्थ-व्यय पर समझाया था। इसने आयु भर टाइमन का नमक खाया और अब इस आपत्ति की दशा में भी टाइमन से उतना ही स्नेह रखता था। उसको मालूम नहीं था कि मेरा स्वामी कहाँ है। इसलिए बहुत खोज के पश्चात् अब वह अपने स्वामी के पास आया था कि इस कष्ट में यथाशक्ति उसकी सेवा कर सके। ज्योंही उसे टाइमन के दर्शन हुए, वह अपने स्वामी की दशा में ऐसा परिवर्त्तन देखकर विस्मित हो गया। टाइमन ने अपनी खोह से निकलकर पूछा—अरे तू कौन है? यहाँ से भाग जा।

फ़्लैवि०—क्या श्रीमान् मुझे भूल गये?

टाइमन—अरे तू ऐसा प्रश्न क्यों करता है? मैं सब आदमियों को भूल गया। तू भी आदमी है, इसलिए तुझे भी भूल गया हूँ।

फ़्लैवि०—मैं श्रीमान् का सत्यप्रिय दीन दास हूँ।

टाइमन—तो मैं तुझे नहीं जानता! मेरे पास कभी कोई सत्यप्रिय मनुष्य न था। जो लोग मेरे पास थे वे सब दुष्ट थे और दुष्टों को खिलाते थे।

फ़्लैवि०—ईश्वर जानता है कि जिस शोक को इस समय मेरी आँखें प्रकट कर रही हैं उससे कम शोक मुझे अपने स्वामी की दुर्दशा पर कभी नहीं हुआ।

टाइमन—क्या तू रोता है ? तो मेरे निकट आ। मैं तुझसे प्रेम करता हूँ, क्योंकि तू स्त्री है और पुरुषों से घृणा करती है।

इस प्रकार बड़ी देर में टाइमन पहचान सका कि यह मेरा ही स्वामि-भक्त कोषाध्यक्ष है। बहुत बातचीत के पश्चात् उसे मानना पड़ा कि संसार में कम से कम एक सच्चा पुरुष है। जब फ़्लैवियस ने सेवा करने की आज्ञा चाही तब टाइमन ने अस्वीकार किया और कहा—"यद्यपि तू सच्चा है तथापि तेरा आकार मनुष्य का सा है और मुझे मनुष्यों से घृणा है। इसलिए तू अभी यहाँ से चला जा।" इस प्रकार टाइमन ने अपने भक्त चाकर को अपने पास से भेज दिया।

परन्तु अब फ़्लैवियस से भी अधिक प्रतिष्ठित पुरुष टाइमन से भेंट करने आये। हम ऊपर लिख चुके हैं कि अल्सीबीडीज़ बदला लेने की इच्छा से बहुत बड़ी सेना लेकर अथेंस पर चढ़ आया था और पागल सुअर के सदृश नगर-निवासियों का सत्यानाश कर रहा था। अथेंस में उस समय कोई ऐसा वीर पुरुष नहीं था जो अल्सीबीडीज़ का सामना कर सकता। नगर में हाहाकार मच रहा था। बच्चे, बूढ़े, पुरुष, स्त्रियाँ सभी उसकी तलवार की धार से नष्ट हो रहे थे। ऐसे समय में राजसभा की आँखें फिर टाइमन के ही ऊपर पड़ीं। पहले टाइमन सेनाध्यक्ष का कार्य कर चुका था और उसकी वीरता के आगे बड़े से बड़े योद्धा डर जाते थे। समस्त अथेंस में

टाइमन से अधिक बलवान् कोई नहीं था। इसलिए राजसभा के सभासदों ने योग्य पुरुषों का एक डेपूटेशन टाइमन की सेवा में भेजा कि इस कठिन अवसर पर सहायता दीजिए। जिन लोगों ने टाइमन के कठिन अवसर पर उसे सूखा उत्तर दे दिया था वही निर्लज्ज अपनी आपत्ति के समय में टाइमन से सहायता माँगने चले। जिस समय उनकी टाइमन से भेंट हुई तो उन्होंने कहा—

"महाराज! राजसभा के सभासद श्रीमान् को प्रणाम करते हैं।"

टाइमन—मैं उनका कृतज्ञ हूँ और यदि मुझे महामारी मिल जाय तो उनके लिए भेज दूँ।

१ ला सभासद—आप उन बातों को भूल जाइए, जिनके स्मरण से हमको बहुत लज्जा आती है। इस समय राजसभा के समस्त सभ्यगण एक स्वर से श्रीमान् से अथेंस लौटने की प्रार्थना करते हैं। इस समय श्रीमान् के लिए ही राज्य का एक प्रतिष्ठित पद ख़ाली है।

२ रा सभासद—राजसभा बड़ी लज्जित है कि श्रीमान् को इस प्रकार भूल गई। परन्तु अब उसने निश्चय किया है कि जो हानि आपकी हुई है उससे कहीं अधिक लाभ पहुँचा दिया जायगा। श्रीमान् नगर को लौट चलें और अल्सीबीडीज़ की सेना को परास्त करें, जो आपके और हमारे नगर को मिट्टी में मिला रहा है।

सारांश यह कि राज-सभासदों ने बहुत कुछ रो-पीट-कर टाइमन से सहायता की याचना की, परन्तु टाइमन ने स्पष्ट उत्तर दे दिया कि यदि समस्त नगर नष्ट हो जाय तो भी मुझे कोई परवा नहीं। यदि अल्सीबीडीज़ अथेंस को उजाड़कर वहाँ के निवासियों को नष्ट कर दे तो मुझे बड़ी ख़ुशी होगी। मैं सेना के हर एक हथियार को अथेंस के प्रतिष्ठित से प्रतिष्ठित पुरुष के गले की अपेक्षा बहुमूल्य समझता हूँ।

जब टाइमन इस प्रकार राज-सभासदों को निराश कर रहा था और वे उसके सामने स्त्रियों और बच्चों के समान बिलक-बिलक कर रो रहे थे उस समय टाइमन ने एक ऐसी बात कह दी कि जिससे उनको कुछ आशा हो गई। वह कहने लगा कि यद्यपि मेरे नगर के लोगों ने मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है तथापि मेरे हृदय में उनके लिए कुछ स्नेह है; मैं उनको अल्सीबीडीज़ के अत्याचारों से बचने का उपाय बता सकता हूँ।

इस बात के सुनते ही उन लोगों में कुछ जान-सी पड़ने लगी और वे उससे उस उपाय के जानने की इच्छा करने लगे। वे समझते थे कि टाइमन के हृदय में फिर दया का प्रादुर्भाव होने लगा है। सम्भव है कि अधिक आग्रह से वह सेनाध्यक्ष के पद को स्वीकार कर ले। परन्तु टाइमन ने उत्तर दिया—

"मेरी कुटी के निकट एक वृक्ष है जिसे मैं काटना चाहता हूँ। मेरे देश-भाइयों से कह दो कि यदि वे शत्रु के अत्याचारों से बचना चाहते हैं तो एक एक रस्सी लेते आवें और इस वृक्ष पर फाँसी लगाकर मर जायँ!"

अब लोगों को निश्चय हो गया कि टाइमन कदापि नगर को न लौटेगा और वे निराश होकर चले गये। उधर अल्सीबीडीज़ ने नगर पर अधिकार स्थापित कर लिया, और अपने तथा टाइमन के शत्रुओं के बीज का नाश कर दिया। टाइमन अब अधिक समय तक जीवित न रहा। न जाने उसने आत्मघात कर लिया अथवा जीवन के कष्टों से तङ्ग आकर दूसरे ही दिन प्राण त्याग दिये। एक सिपाही को उसकी क़बर पर यह लिखा हुआ मिला—

"यह टाइमन की क़बर है, जो मृत्यु-पर्यन्त समस्त मनुष्य जाति से घृणा करता रहा। किसी को यहाँ ठहरना नहीं चाहिए। जो आवे वह सीधा चला जाय और जी भरके कोस ले।"

यह क़बर समुद्र के तट पर बनी थी। बहुत-से लोगों का विचार है कि इसे उसने ऐसे स्थान पर इसलिए बनाया है कि समुद्र भी उसकी लाश पर अश्रुपात कर सके।

१०—जटायु

[लाला सीताराम बी० ए०]

[स्थान पञ्चवटी]

(सम्पाति आता है)

सम्पाति—हो न हो आज भैया जटायु हमसे मिलने को मलयगिरि के खोह के घर में आता है। उसी से—

खोलैं दिसान समेटत बार पसारि अकास छिपावत हैं।
मेघन सों बरसावत नीर छुटी बिजुरीहि हिलावत हैं॥
टूटत शैल प्रहार चहूँ दिसि पाथरखण्ड उड़ावत हैं।
श्येनि के पुत्र जटायु को आगम हीलत पङ्ख जनावत हैं॥
लागि प्रचण्ड बयारि तरङ्ग उठै भड़कै जल बाढ़त ज्वाला।
छेदनवायु के वेग से जाय हिलाय दयो धुनि ब्यापि पताला॥
विश्व सँभारे जो आदिवराह भयो तिनके मुख शब्द कराला।
गर्जत है सोइ मेघ समान लगे जब लोग सँहारन काला॥

(जटायु आता है)

जटायु—कावेरी जेहि चहुँदिसि घेरे।
उतरौं शिखर मलयगिरि केरे॥
तहाँ बसत खगपति बड़ भाई।
लगे पङ्ख गिरिवर की नाई॥
मेरेहु उड़े थकावट लागत।
मेरे पङ्ख उद्यम निज त्यागत॥

प्रबल काल की शक्ति, बुढ़ाई।
शक्ति सकल तन केरि नसाई॥

यह तो मन्वन्तर के पुराने बड़े भाई गृध्रराज सम्पाति हैं। भाई की प्रीति भी कैसी है।

दूर उड़न को खेल करत एक युग महँ आगे।
पहुँचि गयों रवि पास जरन तब मो पख लागे॥
मोहि बालक तब जानि झपटि निज पख फैलावा।
कीन्ह दया सम्पाति भ्रात तब मोहि बचावा॥

(आगे बढ़ के) भाई काश्यप! जटायु प्रणाम करता है।

सम्पाति—आओ भैया।

तोहि गीधन अधिराज लहि, धन्य हमारी माय।
बिनता ज्यों दादी रही, गरुड़ सरिस सुत पाय॥

(गले लगाके) भैया जटायु, भला बहुत दिन बीतने से रामचन्द्रजी को जो बाप के मरने का शोक हुआ था वह कुछ घटा?

जटायु—मन स्वभाव से धीर अति, मुनिगन को सत्सङ्ग।
प्रजापाल अधिकार पुनि, करत सोक सब भङ्ग॥

सम्पाति—छकि बिराध के माँस सों कह्यो गीध यह आय।
गे सरभङ्ग मुनीस के आश्रम कों रघुराय॥
हौन कीन्ह जब आगि महँ निज तन मुनि तब राम।
गये सुतीछन आदिकन देवमुनिन के धाम॥

जटायु—ठीक है। अब अगस्त्य मुनि के कहने से रामचन्द्र पञ्चवटी में रहते हैं।

सम्पाति—(देर तक सोचके) हाँ, जनस्थान में गोदावरी के किनारे पञ्चवटी एक जगह है। भैया काम भी बहुत रहता है, दिन भी बहुत हुए इससे सुध नहीं रहती।

छलन काज बलिराज लीन्ह बामन अवतारा।
लसत ध्वजा सम गङ्ग जहाँ लगि पद हरि धारा॥
लोकालोक पहार सातवें सागर छोरा।
कल्प आदि तहँ लागि रह्यो परिचित सब मोरा॥

जटायु—वहाँ एक बार रामचन्द्रजी से अपना मनोरथ पूरा कराने शूर्पणखा पहुँची।

सम्पाति—हत तेरी निर्लज्ज की!

त्रेता जाकी तेरहीं, जो जुग जिई अनेक।
ताहि लजावत बालकहिं, लाज न आई नेक॥

जटायु—नाक कान अरु ओंठ हरि, तेहिकर लखन कुमार।
दशकन्धर के सीस पर, कीन्हों चरन प्रहार॥

सम्पाति—जो कुछ राक्षसों ने चढ़ाई की थी।

जटायु—जी हाँ। पर एक ही रामचन्द्रजी ने—

राक्षस की सेना रही, चौदह सहस कुमार।
खर दूषन त्रिसिरा तहाँ, रन कीन्हें संहार॥

सम्पाति—बड़ा अचरज है। और अचरज की कौन बात है, दशरथ ही के तो लड़के हैं। अब तो मुझे जान पड़ता है

कि बड़े भारी बैर का ठिकाना हुआ। मैं इससे बहुत घबड़ाता हूँ। भैया, अब तुम सीता और लक्ष्मण को छन भर भी न छोड़ना।

सगी बहिन की होत मनुज हाथन सन वह गति।
पुनि बन्धुन को नास सहै कैसे निश्चरपति॥
रहै निकट मद अन्ध शत्रु छल बल अधिकारी।
लरिकन की ह्वै सावधान करिए रखवारी॥

हम भी समुद्र के तीर पर नित्यकर्म करके कल्याण करनेवाले मन्त्र जपेंगे।

(बाहर जाता है)

जटायु—(उड़के)

सिमिटत लागत प्रलय बतासा।
धावत सुरकत मनहुँ अकासा॥
प्रलय शैल सन चलि पहुँच्यों तहँ।
गिरितट लगे हरे घन बन जहँ॥

देखो यह प्रस्रवण नाम पहाड़ जनस्थान के बीच में है जिसका नीला रङ्ग बार-बार पानी के बरसने से मैला-सा हो गया है और जिसकी कन्दरा घने पेड़ों के अच्छे वनों के किनारे गोदावरी के हलोरों से गूँज रही है। (देखके)

गये दूरि मृगसँग रघुनन्दन।
सोइ दिसि जात लखन व्याकुल मन॥

जोगी गयो कुटी महँ कोई ।
हाय हाय रावन यह होई ॥

हा बड़ा अनर्थ हो गया ।

जोते सहस पिशाचमुख, खच्चर निसिचरराय ।
रथ सीतहिं बैठाय के, यह पापी कहँ जाय ॥

रावन ! रावन !

जो सृष्टि के लयकाल मुनिवर वेद की रच्छा करी ।
तुम होय तिनके बंस महँ करि श्रौतव्रत मनतम-हरी ॥
तप कीन्ह, जिन त्रैलोक जीतनहार की पदवी लई ।
यह निन्द्य बंसकलङ्क-कारन तासु मति कैसे भई ॥

अरे यह मेरी बात सुनता ही नहीं; अरे पापी राक्षस खड़ा रह,—

चोंच में तेरे कपार पिरोइ कै झोंकन देह की नाड़ी हिलाई ।
तिल्ली और फेफड़े पित्तेहि नोचि निसारिकै आँतन रक्त बहाई ॥
तौरि कै खड्ग से पैने नखौं तव हाड़न अङ्ग सबै बिलगाई ।
आजु निसाचर औसर पाइके खाइहै श्येनी को पूत अघाई ॥

(बाहर जाता है)

११—वीरता

[पं० श्यामविहारी मिश्र, एम० ए०, तथा पं० शुकदेवविहारी मिश्र, बी०ए०]

वीरत्व संसार में एक अमूल्य रत्न है। इसका आविर्भाव उत्साह से होता है। साहित्यशास्त्र में उत्साह ही इसका

स्थायी भाव माना गया है, अर्थात् बिना उत्साह के यह कभी स्थिर नहीं हो सकता। जिस पुरुष में किसी प्रकार का उत्साह नहीं है वह किसी भी बात में कभी वीरता नहीं दिखला सकता। यह एक ऐसा गुण है कि जिसे न केवल वीर वरन् कादर भी सम्मान की दृष्टि से देखता है। वीर से बढ़कर सर्वप्रिय कोई भी नहीं होता और संसार पर वीरता का जितना प्रभाव पड़ता है उतना प्राय: और किसी गुण का नहीं पड़ता। सत्य आदि भी बड़े अनमोल गुण हैं किन्तु जितना आकस्मिक और रोमाञ्चकारी प्रभाव वीरत्व का पड़ेगा उतना सत्य आदि का कभी नहीं पड़ेगा। इसी लिए वीरत्व में जगन्मोहिनी शक्ति सभी अन्य गुणों से श्रेष्ठतर है और यह कीर्ति का सबसे बड़ा वर्धक है। कादरता में तिलमात्र आकर्षण-शक्ति तथा भय में कुछ भी प्रीति योग्य नहीं है, कादरता का कोई भी अंश किसी का चित्त अपनी ओर आकृष्ट नहीं करेगा और भय में कोई भी ऐसा अंश नहीं है जो किसी का प्रीतिभाजन हो सके

वीरत्व को बहुत लोगों ने सामर्थ्य में मिला रक्खा है किन्तु इन दोनों में कोई मुख्य सम्बन्ध नहीं है। सामर्थ्य केवल इतना करता है कि वीरत्व की महिमा बढ़ा देता है। यदि वीर पुरुष बलहीन हुआ तो उसकी वीरता वैसी नहीं जगमगाती जैसी कि बलवान् वीर की। यदि हनुमान्‌जी समुद्र न फलाँग गये होते तो भी उतने ही बड़े वीर होते जैसे कि अब

माने जाते हैं किन्तु उनके महावीरत्व के चमकानेवाले उदधि-उल्लङ्घन और द्रोणाचलआनयन के ही कार्य्य हुए। वीरत्व और पराक्रम में इतना ही भेद है। वास्तविक वीरत्व का मुख्य आधार शारीरिक बल न होकर मानसिक बल है जिसे इच्छाशक्ति कहते हैं। इस शक्ति का वेग कोई भी नहीं रोक सकता। एक पुरुष की उद्दाम इच्छाशक्ति से पूरी सेना में पुरुषत्व आ सकता है और एक कादर कभी-कभी पूरे दल की कादरता का कारण हो जाता है। शरीर का वास्तविक राजा मन ही है। इसी की आज्ञा से शरीर तिल-तिल कट जाने से मुँह नहीं मोड़ता और इसी की आज्ञा से एक पत्ते के खड़कने से भी भाग खड़ा होता है। बुद्धि, अनुभव आदि इसके शिक्षक हैं। यही सब मिलकर इसे जैसा बनाते हैं वैसा ही यह बनता है। इच्छा इसी शिक्षित अथवा अशिक्षित मन की आज्ञा है। मन जितना ही दृढ़ अथवा डावाँडोल होगा उसकी आज्ञा, इच्छा, वैसी ही पुष्ट अथवा शिथिल होगी। जिसका मन पूर्णतया शिक्षित और स्ववश है उसी की इच्छा में वज्रवत् दृढ़ता होगी। बिना ऐसी इच्छाशक्ति के कोई पुरुष पूरा वीर नहीं हो सकता। इसलिए दृढ़ता वीरत्व की सबसे बड़ी पोषिका है। जिसका मन उचित काम करने से तिलमात्र चलायमान होता ही नहीं और जो अनुचर कार्य्य देखकर बिना उसे शुद्ध किये नहीं रह सकता, वह सच्चा वीर कहलावेगा।

वीरता का द्वितीय पोषक न्याय है। बिना इसके वीरत्व शुद्ध एवं प्रशंसास्पद नहीं होता। न्याय के सच्चा होने को बुद्धि की आवश्यकता है और साधारण न्याय को उदारता से अच्छी कान्ति प्राप्त होती है। अतः वीरता के लिए न्याय, शीलता, उदारता और बुद्धि की सदैव आवश्यकता रहती है। सच्चे वीर को अन्याय कभी सह्य नहीं होगा। हमारे यहाँ वीरता का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण भगवान् रामचन्द्र का है। इन्हीं को महाकवि भवभूति ने महावीर की उपाधि से भूषित करके महावीर-चरित्र के नाम से इनकी जीवनी एक नाटक में लिखी है। दण्डकारण्य में जिस काल आपने निशिचरों-द्वारा भक्षित ब्राह्मणों की अस्थियों का समूह देखा तो तुरन्त 'निशिचर-हीन करों महि, भुज उठाय पण कीन्ह'। यही उत्साह का परमोज्ज्वल उदाहरण था जो आपने निशाचरों से बिना कोई बैर हुए भी दिखलाया। समय पर आपने यह उद्दण्ड पण सत्य करके दिखला दिया। इनकी इच्छा लोहे के समान पुष्ट थी जो एक बार जाग्रत् होने से फिर दब नहीं सकती थी। इच्छा और कर्म में कारण-कार्य्य का सम्बन्ध है, सो कारण शिथिल होने से कार्य का होना कठिन होता है। कहते ही हैं कि बिना दृढ़ेच्छा के सदसद्विवेकिनी बुद्धि की आज्ञा अरण्य-रोदन हो जाती है। शुभ कार्य्यारम्भ के विषय में कहा है कि विघ्न-भय से अधम पुरुष किसी शुभ कार्य्य का प्रारम्भ नहीं करते और मध्यम श्रेणी के लोग प्रारम्भ करके भी विघ्न पड़ने पर उसे छोड़ बैठते

हैं किन्तु उत्तम प्रकृतिवाले हज़ार विघ्नों को दबाकर एक बार का प्रारंभ किया हुआ शुभ कार्य पूरा करके ही छोड़ते हैं।

सत्यनिष्ठा भी शौर्य्य के लिए एक आवश्यक गुण है। वीर पुरुष लोभ को सदैव रोकेगा, ईमानदारी का आदर करेगा, असत्य-भाषण से बचेगा और अपना वास्तविक रूप छोड़कर कोई भी कल्पित भाव अथवा गुण प्रकट करने की स्वप्न में भी चेष्टा न करेगा। संसार में साधारण पुरुष लोक-मान्यता के लालच में सिद्धान्तों को भङ्ग करते हुए बहुधा देखे गये हैं। सिद्धान्त-प्रिय पुरुष माने जाने की इच्छा लोगों की ऐसी बलवती देखी गई है कि लोगों-द्वारा सिद्धान्ती माने जाने ही के लिए वे सबसे बड़े सिद्धान्तों को हँसते हुए चकनाचूर कर देंगे। जो लोकमान्यता के भय से सिद्धान्तों को भङ्ग करने को तैयार नहीं है वह पुरुष सच्चा वीर कहलाने के योग्य है। इस विषय का परमोत्कृष्ट उदाहरण हमारे सत्यकाम जबाला का मिलता है। जिस काल यह पुरुष-रत्न अपने गुरु के पास विद्याध्ययनार्थ उपस्थित हुआ तो उन्होंने इसके माता-पिता का नाम पूछा। सत्यकाम ने माता का नाम तो जबाला बतला दिया किन्तु पिता-विषयक प्रश्न का यही सीधा उत्तर दिया कि मेरा पिता अज्ञात है; क्योंकि एक बार मेरे पूछने पर मेरी माता ने कहा था कि जिस काल तेरा गर्भाधान हुआ था उस मास मेरे पास कई पुरुष आये थे सो मैं नहीं कह सकती कि तू उनमें से किसका पुत्र है। इस उत्तर को

सुनकर सत्यकाम का गुरु अवाक् रह गया, किन्तु भावी शिष्य की सत्यप्रियता से परम सन्तुष्ट होकर उसने आज्ञा दी कि तू ही सत्यप्रियता के कारण अध्यात्म विद्या का सर्वोत्कृष्ट अधिकारी है। इतना कहकर गुरु ने उसे शिष्य किया और सत्यकाम का जबाला नाम रख उसे अपने शिष्यों से श्रेष्ठतर माना। समय पर यही सत्यवादी पुरुष ब्रह्म-विद्या का सर्वोत्कृष्ट पण्डित हुआ। इस पुरुष का घर सत्य का अवतार था, इसका मन निर्मल था और इसका बर्ताव उच्च था। इन्हीं बातों से जारज पुरुष होकर भी यह ब्रह्म-विद्या का सबसे ऊँचा अधिकारी हुआ। इसी लिए यह कहा गया है कि मन, बर्ताव और गृह मिलकर मनुष्य का चरित्र बनाते हैं।

वीरत्व का सर्वश्रेष्ठ समय बाल-वय है। जितना उत्साह मनुष्य में इस काल में होता है उतना और किसी समय नहीं होता। श्लाघ्य चरित्रवान् मनुष्यों को एक बालक जितना बड़ा मान सकता है उतना कोई दूसरा कभी न मानेगा। बाल-वय में मन सफ़ेद काग़ज़ की भाँति होता है। इस पर सुगमता-पूर्वक चाहे जो लिख सकते हैं। उदार चरित्रवालों में वीर-पूजन की मात्रा अधिकता से होती है और ऐसा प्रति पुरुष किसी न किसी को श्लाघ्य एवं महावीर अवश्य मानता है। केवल महानीचों को ही संसार में कोई भी श्लाघ्य नहीं समझ पड़ता। जिसमें श्लाघ्य चरित्र-पूजन की कामना बलवती होती है उसमें वीरता कम से कम बीज-रूप से तो

रहती ही है। स्यात् इन्हीं विचारों से हमारे यहाँ वीर-पूजन की रीति चलाई गई हो। बिना दूसरों के गुण ग्रहण किये हुए लोग प्रायः उदारचेता नहीं होते। इसी लिए वीरों में कोमलता और उदारता प्रायः साथ ही साथ पाई जाती है। प्रसन्न-चित्तता भी इन्हीं बातों का एक अङ्ग है। कहा गया है कि बुराई रोकने का पहला उपाय मानसिक प्रसन्नता है, दूसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता है और तीसरा उपाय भी मानसिक प्रसन्नता ही है। बिना इसके बुराई रुक ही नहीं सकती। मानसिक प्रसन्नता का प्रादुर्भाव प्रेम-भाव से होता है। जिस व्यक्ति से हम प्रेम करेंगे वह लौटकर हमसे भी प्रेम करेगा। इसलिए जो संसार-प्रेमी होता है उससे सारा संसार प्रेम करता है जिससे वह सदैव प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में वह बुराई किसके साथ करेगा? प्रायः देखा गया है कि अपने साथ किसी की खोटाई का मूल कल्पना मात्र होती है। हम स्वयं असभ्यता कर बैठते हैं और जब उसके प्रतिफल में हमारे साथ कोई असभ्यता करता है तब हम आत्म-प्रेम में अन्ध होकर समझ बैठते हैं कि वह निष्कारण हमारे साथ खोटाई करता है। इसलिए सम्भावित पुरुष को बुराई से सदैव बचना उचित है और क्षमा से अवश्य काम लेना चाहिए; क्योंकि बे-जाने हुए भी हमारे द्वारा क्षमापात्र का अपकार हो जाना सम्भव है। खोटाई और निष्फलता का पहले ही से भय कभी न करना चाहिए; क्योंकि ऐसा करने से कोई इनको

जीत नहीं सकता। इनको जीतने का सबसे सुगम उपाय आशा ही है। इसी लिए कहा गया है कि आशा न छोड़नेवाला स्वभाव भी बहुत ही मूल्यवान् है।

स्वार्थत्याग वीरता का सबसे बड़ा भूषण है। दास-भाव ग्रहण करके यदि कोई विवाह-बन्धन में पड़े तो उसके इस कर्त्तव्य में कुछ न कुछ क्षति अवश्य पहुँचेगी। वीरवर हनुमान् ने जब भगवान् का दासत्व ग्रहण किया तब आत्मत्याग का ऐसा अटल उदाहरण दिखलाया कि जीवन-पर्य्यन्त कभी विवाह ही नहीं किया। इधर भगवान् ने जिस काल यह देखा कि इनकी प्रजा इनके द्वारा सीता-ग्रहण के कारण इन्हें उच्चातिउच्च आदर्श से गिरा समझती है तब इन्होंने प्राणोपम अर्द्धाङ्गिनी सती सीता तक का त्याग करके अपने प्रजारञ्जनवाले ऊँचे कर्त्तव्य को हाथ से नहीं जाने दिया। बाल-वय में भी अपने पिता की बेमन की आज्ञा मानने तक से इन्होंने तिलमात्र सङ्कोच नहीं किया। आपने यावज्जीवन स्वार्थत्याग और कर्त्तव्य-पालन का ऊँचा आदर्श दिखलाया, मानों ये सदेह कर्त्तव्य होकर पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे।

कार्य-साफल्य साधारण दृष्टि से तो वीरता का पोषक है किन्तु दार्शनिक दृष्टि से इसका शौर्य से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। दार्शनिक शुद्धता प्रति वास्तविक वीर कर्म में आ जाती है, चाहे वह तिलमात्र भी सफल न हुआ हो और साधारण से साधारण पुरुष-द्वारा सम्पादित हुआ हो। एक साधारण सैनिक जो

अपने सेनापति की आज्ञा से मोर्चे पर शरीर त्याग देता है, दार्शनिक दृष्टि से, बड़े से बड़े विजयी के बराबर है। वीरता के मूल सूत्र कर्त्तव्य-पालन और स्वार्थ-त्याग हैं। बिना इनके कोई मनुष्य वास्तविक वीर नहीं हो सकता। एक बार दो रेलों के लड़ जाने से एक एंजिन हाँकनेवाला अपने एंजिन में दबकर बायलर में चिपक रहा। वह मृतकप्राय था किन्तु उसके होश-हवास नहीं गये थे। इसलिए वह जानता था कि बायलर जल्द फटकर उड़ेगा; सो जब और लोग उसे छुड़ाने के लिए प्रयत्न करने लगे तब उसने उन सबको वहाँ से यह कहकर खदेड़ दिया कि मैं तो मरा ही हूँ, तुम सब यहाँ प्राण देने क्यों आये हो, क्योंकि भाप के बल से अभी बायलर फटना चाहता है जिससे सबके प्राण जायँगे। मरणावस्था में भी दूसरों के लिए इतना ध्यान रखना वीरता का बड़ा लक्षण है।

वीरत्व के लिए भय का देखना तक ठीक नहीं कहा गया है। इसी लिए हमारे यहाँ वीर को शूर कहते हैं कि अन्धे की भाँति वह भय को देख ही न सके। बालक, स्त्री, दीन, दुखिया आदि के उद्धार में वीर पुरुष अपना जीवन तृण के समान दे देगा। सच्चा वीर निर्बल, भीत, कायर और स्त्री पर कभी किसी प्रकार का अत्याचार न करेगा। संसार में जिसकी पदवी जितनी ही ऊँची है उसे उतनी अधिक वीरता दिखलानी चाहिए, क्योंकि उसकी वीरता से संसार का बहुत

अधिक लाभ हो सकता है। इन्हीं कारणों से राजा को सबसे अधिक वीर होना चाहिए। कहा ही है—'वीरभोग्या वसुन्धरा'। फिर भी छोटे-से-छोटे पुरुष को भी उच्च सिद्धान्तों से तिलमात्र नहीं हटना चाहिए; क्योंकि थोड़ी-सी बुराई भी संसार में अपना फल दिखलाये बिना नहीं रहती। इसी से कहा गया है कि अनुभवी पुरुष को थोड़े-से अवगुण की भी उपेक्षा न करनी चाहिए, नहीं तो थोड़ा-सा अवगुण उसमें अवश्य आ जायगा।

१२—बेतार का तार

(Wireless Telegraphy)

[श्रीलक्ष्मीकान्त केसरी]

संसार अद्भुत और अलौकिक है। पर शक्ति और सौन्दर्य्य के मधुर समावेश से वह अत्यन्त रमणीय और स्वाभाविक मालूम पड़ता है। जिस जल का सङ्गीत-व्यञ्जित मन्द-प्रवाह और शीतलता हमें आनन्ददायक प्रतीत होती है उसी जल की अन्तर्निहित शक्ति कैसी प्रचण्ड है, यह बात रेलगाड़ी या अन्यान्य वाष्प-परिचालित कल-कारखानों के देखने से हम अच्छी तरह हृदयङ्गम कर सकते हैं। काले बादल के अङ्क में चमकती हुई जिस बिजली की स्वर्णच्छटा से मुग्ध होकर भव्य कल्पना और उपमा की सृष्टि होती है उस हेमवल्लरी में कैसी

विचित्र शक्ति सञ्चित है, इसका पता टेलीग्राफ़, बिजली से चलनेवाली रेलगाड़ी, बिजली के प्रकाश आदि से भले प्रकार लग जाता है। आधुनिक विज्ञान की बदौलत हम लोगों का कैसी-कैसी अद्भुत बातों से परिचय हुआ है, उनकी गिनती ही नहीं की जा सकती। पर उनमें से दो नैसर्गिक शक्तियों के आविष्कार और उनके उपयोग प्रधान माने जाते हैं—वाष्प और बिजली। इन दोनों की शक्तियाँ अत्यन्त ही आश्चर्य-जनक हैं। यहाँ केवल बिजली की शक्ति के वैचित्र्य के सम्बन्ध में संक्षेप में कुछ लिखा जाता है।

योरप में बिजली का सर्व-प्रथम आविष्कार इटली में हुआ था। यह बात ईसा के जन्म के पूर्व की है। इस बीच में कई सदियाँ बीत गईं और बिजली की शक्ति के कई नये-नये प्रयोग भी उद्भावित किये गये। बिजली की शक्ति द्वारा तार से ख़बर भेजना, गृह, राजपथ और नगर आदि आलो-कित करना और कल-कारख़ानों का चलाना आदि कितने ही लोकोपयोगी काम किये जाते हैं। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ में उसकी एक अभिनव शक्ति का आविष्कार हुआ है। वह है बिना तार के उसकी शक्ति का अद्भुत उपयोग। आधुनिक विज्ञान के इस आविष्कार ने विलक्षणता की हद कर दी है। इसमें एक ख़ूबी यह भी है कि जिस इटली में सर्व-प्रथम बिजली की शक्ति आविष्कृत हुई थी वहीं इस नये आविष्कार का भी सूत्रपात हुआ है; विज्ञानाचार्य मार्कोनी की यह उद्भावना है।

मार्कोनी के पहले उन्नीसवीं सदी के शेष भाग में हेनरी हार्ट्ज़ नामक एक जर्मन विज्ञान-वेत्ता ने बिजली की शक्ति के कई एक नूतन गुण खोज निकाले थे। बिजली की शक्ति तार में प्रवाहित न होकर भी दूरस्थ किसी वस्तु पर प्रभाव डाल सकती है, यह बात उस समय के अनेक वैज्ञानिकों को मालूम रहने पर भी उनमें से किसी ने उसे सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न न किया। विद्युद्ग्राही तार के सन्निकट स्थित नाविक के दिक्-सूचक यन्त्र का काँटा बिना किसी कारण के क्यों कुछ घूमकर फिर एक जगह ठहर जाता है, यह देखकर भी किसी ने उसका कारण अन्वेषण करने की चेष्टा नहीं की। हेनरी हार्ट्ज़ ने सबसे पहले इस शक्ति का उपयोग करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने पहले बिजली की धारा पैदा करनेवाले एक यन्त्र का आविष्कार कर उसे दिक्-सूचक यन्त्र से थोड़ी दूर पर एक तार के कुण्डलाकृति-रूप से एक खम्भे में लटका दिया। इस तार के दोनों मुँह कुछ खुले रक्खे गये। इसके बाद यह दिखाई दिया कि जितनी बार उनका यन्त्र बिजली की धारा पैदा करता है उतनी ही बार इस तार के असम्बद्ध मुँह के अन्तराल में भी बिजली की धारा पैदा हो जाती है। इसके सिवा और कई परीक्षाओं से यह सिद्ध कर दिखाया गया कि बिना तार के बिजली शून्य में भी प्रवाहित हो सकती है। यह भी प्रमाणित हुआ कि वायु से भी अधिक स्वच्छ हलका एक प्रकार के पदार्थ का स्रोत अनन्तभाव से विश्व-ब्रह्माण्ड में बहता रहता है।

परन्तु वह क्या है, यह बात वे निश्चित न कर सके। आधुनिक वैज्ञानिकों ने उसका नाम "ईथर" बताया है। हेनरी हार्ट्ज़ के यन्त्र से उत्पन्न होनेवाली बिजली की धारा के पूर्वोक्त तार के मुँह में दिखाई देने का कारण यह था कि यन्त्र में स्फुलिङ्ग के उत्पन्न होने से एक विद्युत्तरङ्ग की सृष्टि होती है जो ईथर में प्रवाहित हो उस तार के मुख में टकराती है। इस कारण वह विद्युत्-स्फुलिङ्ग दिखाई देता है। इस विद्युत्तरङ्ग की गति आलोक-तरङ्गों की तरह वेगवती होती है—प्रति सेकेण्ड यह एक लाख छियासी हज़ार मील भ्रमण करती है।

दुर्भाग्य-वश शीघ्र ही हेनरी हार्ट्ज़ का देहान्त हो गया। उनके द्वारा आविष्कृत बिजली की नूतन शक्ति के उपयोग में और अधिक उन्नति नहीं हो सकी। वे अपने जीवन-काल में केवल यही बात निश्चित कर सके कि विद्युत्तरङ्ग किस प्रकार प्रवाहित होती है। इस बात की ओर उनका ध्यान ही नहीं गया कि तार के बिना बिजली की शक्ति से संसार के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त को मुहूर्त्त भर में ख़बर भेजी जा सकती है। पर उस समय सुदूर इटली के जेगहान नामक शहर के एक स्कूल के छात्र के मन में इस बात का अङ्कुर उग गया था। मार्कोनी कहते हैं कि जिस दिन उनके मास्टर ने हेनरी हार्ट्ज़ की नूतन आविष्कृत विद्युत्तरङ्ग-सम्बन्धी बातें बतलाईं उसी दिन मेरे मन में यह धारणा दृढ़ हो गई कि यदि यह आविष्कार सत्य होगा तो मैं एक दिन घर बैठे ही सारे संसार की ख़बरें मालूम कर लूँगा।

सन् १८९५ में मार्कोनी ने इस विषय की स्वतन्त्र परीक्षा आरम्भ कर दी। उनकी परीक्षा केवल रसायनशाला ही में आबद्ध नहीं थी। वे समय-समय पर विद्युत्सम्बन्धी सारी सामग्री लेकर विस्तीर्ण मैदान में चले जाते। वे वहाँ ख़ूब ऊँचे-ऊँचे खम्भे गाड़ते और उन खम्भों के ऊपर कुण्डलाकृत तार लटका और उसमें आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े धातुमय विद्युत्-यन्त्रों का योग कर तड़ित्-प्रवाह को दूर से दूरान्तर को भेजवाने की कोशिश किया करते। इस प्रकार वे साल भर तक परीक्षा करते रहे। उन्होंने अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त कर ली। इसके बाद वे अपने विद्युद्यन्त्र आदि साथ लेकर इँगलैंड गये। वहाँ उनके नेतृत्व में एक बेतार की कम्पनी (Wireless and Telegraph Signal Co., Ltd.) स्थापित हुई। उन्होंने जब इस बात की घोषणा की कि बिना तार की सहायता के विद्युद्बल से ख़बरें बहुत दूर तक भेजी जा सकती हैं तब बहुतेरे लोगों ने इसे कोरी गप्प ही समझा। इसके बाद उन्होंने कार्नवाल के समुद्र से न्यूफ़ाउँडलैण्ड को ख़बर भेजी जिसका उत्तर तत्काल मँगाकर लोगों को दिखा दिया परन्तु लोगों ने इतने पर भी विश्वास नहीं किया। वृद्ध तो सिर हिलाकर इसे कोरी शराबियों की गप्प कहने लगे। परन्तु नवयुवक आश्चर्यान्वित होकर उत्साह के साथ इसकी सत्यता का पर्य्यवेक्षण और अनुभव के बाद उसे जगत् में प्रचलित करने के लिए तैयार हो गये। बहुत ही शीघ्र लोगों का अविश्वास

दूर हो गया और सारे संसार में मार्कोनी का नाम फैल गया। बीसवीं सदी के आरम्भ से विज्ञान के इतिहास में एक नवीन अध्याय का श्रीगणेश हुआ। सन् १६०१ में ही मार्कोनी की बेतार की तारवर्की अस्तित्व में आ गई थी। इस आविष्कार से मानव-जाति का जो कल्याण-साधन हुआ है उसका वर्णन नहीं हो सकता। पर यह हुई कई साल पूर्व की बात। परन्तु बेतार की तारवर्की में दिन प्रतिदिन जो उन्नति होती रही है उसे जानकर बड़ा ही विस्मय होता है। यह सच है कि इसका आविष्कार मार्कोनी ने ही किया है किन्तु आजकल यह जिस उन्नतावस्था को पहुँच गई है वह केवल उन्हीं के प्रयत्नों का फल नहीं है। इसे वर्तमान स्थिति को पहुँचाने में कई एक वैज्ञानिकों ने घोर परिश्रम किया। इस सम्बन्ध में मार्कोनी की प्रणाली के सिवा और कई एक उपाय उद्भावित किये गये हैं। मार्कोनी की प्रणाली के अनुसार नदी या समुद्र के किनारे खुली जगह में ऊँचे-ऊँचे खम्भे गाड़कर प्रत्येक खम्भे की चोटी सूक्ष्म तार-तन्तुओं से आच्छादित कर फिर उक्त तार का जाल नीचे के कमरे में स्थित विद्युत्तरङ्ग-ग्राही यन्त्र से संयुक्त कर दिया जाता है। यही तड़ित्तरङ्ग-ग्राही यन्त्र सबसे अधिक उपयोगी होता है। आकाश-मण्डल में जो तड़ित्तरङ्गें प्रवाहित होती रहती हैं वे पूर्वोक्त तार के जाल के तन्तुओं से टकराती हैं। उनके टकराते ही निम्नस्थ यन्त्र उन्हें खींच लेता है और साङ्केतिक भाषा के रूप में उन्हें रूपान्तरित करता है। जो

तार-बाबू वहाँ बैठा रहता है वह उसे प्रचलित भाषा के रूप में लिख लेता है। यह कितनी अद्भुत और आश्चर्य की बात है। एक बार पलक मारने के लिए जितना समय लगता है उतने ही समय में अमेरिका से इँगलेंड या इँगलेंड से जापान तक ख़बर पहुँच जाती है। अमेरिका या आस्ट्रेलिया में किसी विशेष घटना के घटित होने के एक घण्टे बाद ही विलायत के अख़बारों में उसकी ख़बर छप जाती है। पृथ्वी पर आज कहाँ क्या हुआ, किस प्रसिद्ध व्यक्ति ने क्या कहा, अथवा किसकी मृत्यु हुई आदि बातें तत्काल घर बैठे ही लोग जान सकते हैं। यह मनुष्य के बुद्धि-बल का प्रताप है। उसी की प्रेरणा से ये नीरव, जड़, ऊँचे-ऊँचे लोहे के खम्भे तार-तन्तु रूपी अपने हाथ फैलाये हमारे लिए दिग्-दिगन्त से ख़बर ला देते हैं। इसे सुनकर किसी किसी को विक्रमादित्य के बेताल की कहानी का स्मरण हो आता होगा।

बेतार द्वारा ख़बर भेजने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। पहले तो आकाश-मण्डल के ईथर-स्रोत में तड़ित्त-रङ्ग पैदा करना और दूसरे उन तरङ्गों के आघात को प्राप्त करना। इस सम्बन्ध में ऊपर कुछ कहा भी गया है। अब यह बात देखनी चाहिए कि तड़ित्तरङ्गें किस प्रकार पैदा की जाती हैं। तडित्तरङ्ग पैदा करने के लिए बहुत-से नये उपाय उद्भावित किये जाने पर भी हेनरी हार्ट्ज़ के आविष्कृत स्फुलिङ्ग-उद्गमनकारी यन्त्र का ही उपयोग सर्वत्र होता है। उसमें कई

विशेष गुण हैं। यह बात भी ठीक है कि अब उक्त मूलयन्त्र बहुत तरह से संस्कृत और शक्तिशाली बना लिया गया है। हार्ट्ज़ साहब ने तो केवल उसे कुछ या बहुत तड़ित्तरङ्ग दूर भेजने के लिए बनाया था। अब तो किसी वायर्लेस स्टेशन में उत्पन्न की गई तड़ित्तरङ्ग १२,००० मील तक प्रवाहित होती है। इसी से आधुनिक यन्त्र की शक्ति और विशेषता का परिचय मिल जाता है कि उसमें कितना परिवर्त्तन हुआ है। जिस आस्ट्रेलिया के समुद्र-पथ को पार करने के लिए जहाज़ को पाँच सप्ताह, वायुयान को तीन सप्ताह और टेलीग्राफ़ को कई दिन लगते हैं उसे बेतार की बिजली पलमात्र में ही पार कर लेती है।

जब कोई जहाज़ बन्दर को छोड़कर अनन्त समुद्र में अग्रसर होता है तब उसके चारों ओर केवल जल ही जल दिखाई देता है। उस समय यात्री के मन की कैसी दशा हो जाती होगी, यह सोचने की बात है। वह अपने बन्धु-बान्धवों से जब हज़ारों मील दूर हो जाने पर उद्विग्न हो जाता है तब अपने देश की ख़बर, घर की ख़बर जानने के लिए बहुत ही उत्सुक हो जाता है। किन्तु वह अनन्त समुद्र के वक्ष:स्थल पर स्थित जहाज़ इन सब बातों की सुविधा कहाँ पा सकता है? यह सुविधा भी बेतार की बिजली ने कर दी है। बेतार की बिजली से देश का हाल-चाल नियमित रूप से जहाज़ में पहुँचता है और जहाज़ के प्रेस में वह छप जाता है। देश के अख़बारों की भाँति

उसमें सब विवरण छपे रहते हैं। और सबेरे चाय पीने के साथ ही यात्रियों को अख़बार पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त होता है। कार्नवाल शायर में मार्कोनी द्वारा प्रतिष्ठित जो (Wireless sation) है वहाँ से प्रत्येक सन्ध्या को संसार की ख़बरें बेतार द्वारा प्रत्येक जहाज़ को भेजी जाती हैं। वे रात को जहाज़ के छापेख़ाने में छपकर सुबह के अख़बार में यात्रियों को पढ़ने को मिलती हैं। आजकल कई जहाज़ों में Automatic press हो गये हैं। इनमें किसी भी साङ्केतिक भाषा में भेजी गई ख़बर पूर्वोक्त यन्त्र में अपने आप छप जाती है।

१३—काव्य

[सरस्वती-सम्पादक श्री पदुमलाल-पुन्नालाल बख़्शी बी० ए०]

मनुष्य-मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित नहीं देखना चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती तब कल्पना का आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत् में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतन का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलम्बन करते हैं उनके लिए सूर्य्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है, और मन्दाकिनी एक नदी है। परन्तु कवि कल्पना के द्वारा, सूर्योदय में उषा-देवी का दर्शन करते,

हिमालय में भगवान् शिव का विराट् रूप देखते और मन्दाकिनी में मातृ-मूर्ति देखकर गद्‍गद हो जाते हैं। अँगरेज़ी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता और कृत्रिमता आती जाती है त्यों-त्यों वे प्रकृति का संसर्ग छोड़कर संसार में प्रवेश करते जाते हैं, और उनका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं, फूलों से मैत्री रखते हैं, और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल, सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न-काल में हमारी दृष्टि में प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनन्त कार्यों में लगकर हम केवल विश्व के विषम सन्ताप का ही अनुभव करते हैं। सब कुछ वही है, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले हम वर्षा-काल में कीचड़ का भी कुछ ख़याल न कर आकाश के नीचे, पृथ्वी के वक्षःस्थल पर, विहार करते थे। जब जल के छोटे-छोटे स्रोत कल-कल करते, हँसते, नाचते, थिरकते और बहते जाते थे, तब हम भी उन्हीं के साथ खेलते-कूदते और दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गँदलेपन का दृश्य दिखाई देता है, और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा-वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि

हैं, दोनों ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन में हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं वहाँ तुलसीदास के वर्णन में संसार की कुटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी, और तुलसीदास ने काशी अथवा अन्य किसी नगर में।

कवि पर देश-काल का यही प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव कवि की कल्पना-गति का बाधक नहीं होता; तो भी इसमें सन्देह नहीं कि उसी के कारण कवि की कल्पना एक निर्दिष्ट पथ पर ही विचरण करती है। 'होमर' सीता की कल्पना नहीं कर सकता था, और न वाल्मीकि हेलेन की सृष्टि कर सकते थे। भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न भावों की प्रधानता होती है। एक ही देश में भिन्न-भिन्न युगों के कवियों की रचनाओं में हम विभिन्न भावों की जो प्रधानता पाते हैं, उसका यही कारण है। सभ्यता के आदि-काल में जो कवि होंगे उनकी रचनाओं में हम भाषा का आडम्बर नहीं देखेंगे। उनकी कविता निर्मल जल-धारा के समान सदैव प्रासादिक और विशद रहेगी। परन्तु धन और वैभव से सम्पन्न देश में कवियों की रुचि भाषा की सजावट की ओर अधिक रहेगी। इतना ही नहीं, उनकी कविता का विषय भी बाह्य जगत् ही होगा।

साहित्यज्ञों ने ऐसे ही प्रधान-प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है; प्राचीन-

काल, मध्य-काल और नव-काल। साहित्य का यह काल-विभाग सभी देशों के साहित्य में पाया जाता है। साहित्य के मुख्य विषय दो ही हैं। अन्तर्जगत् और बाह्य जगत्। भिन्न-भिन्न युगों में इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न होता है। कोई भी एक युग ले लीजिए। उस काल की सभी रचनाओं में कुछ न कुछ सादृश्य अवश्य रहता है। प्राचीन काल में कवि बाह्य जगत् को अन्तर्जगत् में मिलाकर एक अभिनव जगत् की सृष्टि करते हैं, जहाँ देवताओं और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मधु-पूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्ययुग में पहुँच गये हैं।

काव्य दो विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं। कुछ काव्य ऐसे होते हैं, जो उस कवि के व्यक्तित्व से पृथक् नहीं किये जा सकते। उनमें कवि की आत्मा छिपी रहती है। ऐसे काव्यों में कवि, अपनी प्रतिभा के बल से, अपने जीवन के अनुभवों के द्वारा समस्त मानव-जाति के चिरन्तन गूढ़ भावों को व्यक्त कर देता है। परन्तु कुछ काव्य ऐसे होते हैं जिनमें विश्वात्मा सञ्चरण करती है। वे देश और काल से अनवच्छिन्न रहते हैं। ऐसे ही काव्यों को महाकाव्य कहते हैं, और उनकी रचना वे ही कवि करते हैं जो विश्व-कवि कहलाते हैं, जो समग्र देश और समग्र युग के भावों को प्रकट कर अपनी कृति को मानव-जाति का जीवन-धन बना जाते हैं। गिरि-

राज हिमालय के सदृश वे पृथ्वी को भेदकर आकाश-मण्डल को छूते हैं। काल का प्रभाव उन पर नहीं पड़ता। वे सदा अटल बने रहते हैं और उनकी कविता-जाह्नवी अनिश्चित काल से लोगों को पुनीत करती आ रही है। भारत में रामायण और महाभारत इसी प्रकार के महाकाव्य हैं। प्राचीन ग्रीस के इलियड और ओडेसी भी उन्हीं के समकक्ष महाकाव्य हैं। भारत में जो स्थान वाल्मीकि और व्यास का है, योरप में वही होमर का है।

इन कवियों के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। होमर के कई जीवन-चरित प्रसिद्ध हैं। उनमें से एक का लेखक हेरोडोटस माना जाता है। इन दन्तकथाओं में कवियों की असाधारण बातों ही का उल्लेख किया गया है। वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे दिव्य-शक्ति-सम्पन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कहा जाता है, वाल्मीकि पहले अत्यन्त क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वे तपस्वी हो गये। जिसके काव्य में करुण-रस का अपूर्व स्रोत बह गया है उसकी क्रूरता भी देखने योग्य होगी। बात यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है, और उससे पाषाण-हृदय भी द्रवित हो जाता है। यही बात इस किंवदन्ती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने क्रौंच-पक्षी के वध से व्यथित होकर श्लोक की

रचना की थी। ऐसी घटनाएँ असाधारण होने पर भी असम्भव नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये किंवदन्तियाँ कवियों की कृतियों पर सर्व-साधारण की आलोचनाएँ हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है, यह इस घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्य-लोक में जो जीवन और मरण की लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी जो करुण-वेदना की ध्वनि उठ रही है, क्षणिक संयोग के बाद अत्यन्त वियोग की जो दारुण निशा आती है, उसी से मर्माहत होकर कवि के हृदय से सहसा उद्गार निकल पड़ता है। वही कविता है। जिस कविता में विश्व-वेदना का स्वर नहीं वह कविता माधुर्य से हीन है।

व्यासदेव ने हिन्दू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत में हिन्दू-सदाचार की सृष्टि हुई है। इसी लिए उसको पञ्चम वेद कहते हैं। परन्तु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करनेवाले व्यासजी का जन्म-वृत्तान्त ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिए लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी भी मनुष्य का भविष्य निश्चित नहीं कर देता। महारथी कर्ण ने बहुत ठीक कहा था—

"दैवायत्तं कुले जन्म ममायत्तं हि पौरुषम्।"

अच्छे या बुरे कुल में जन्म होना दैव के अधीन है; पर पौरुष तो मेरे अधीन है। होमर अन्धा था। होमर शब्द का अर्थ ही अन्धा है। उसी प्रकार हमारे सूरदास भी अन्धे थे।

जो जगत् के बाह्य रूप की अवहेलना करके अन्तर्जगत् की खोज करता है उसके लिए चर्म-चक्षु सर्वथा व्यर्थ हैं। आँखों से तो हम पृथ्वी पर ही देखते हैं। पर होमर ने नेत्रहीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन पाया।

वाल्मीकि भारतवर्ष के आदि-कवि माने जाते हैं। उनकी गणना महर्षियों में की जाती है। हिन्दू-समाज में ऋषियों का स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी देव-तुल्य पूजा होती है। उनके कथन का खण्डन करने का साहस कोई नहीं कर सकता। उनके वचन मिथ्या कभी नहीं होते। आदि-कवि का महर्षि होना यह सूचित करता है कि कवि को वही स्थान प्राप्त है जो ऋषि को। उपनिषदों में कहा गया है—"कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः।" अतएव जिस कवि की रचना में वह गुण नहीं, जो एक ऋषि के वचन में होता है, उसे हम कवि नहीं कहेंगे। अलङ्कार, भाषा का सौष्ठव, माधुर्य आदि काव्य के गुण कहे जाते हैं। परन्तु ऋषि की कृति में हम इतने से ही सन्तुष्ट न होंगे। हम तो उससे यही आशा करेंगे कि वह हममें स्वर्गीय भाव भर दे। ऋषि का वचन कामधेनु के समान हमारी सब वासनाओं का अन्त कर सकता है। रामायण का पाठ करने से फिर कोई वासना नहीं रह जाती। तभी तो वह स्वर्ग का सोपान कही गई है।

रामायण में एक आदर्श समाज का चित्र है। इसी लिए कुछ लोगों को उसकी कथा अस्वाभाविक सी प्रतीत होती है।

परन्तु यह उनका भ्रम है। रामायण से यही सिद्ध होता है कि मानव-समाज किस प्रकार आदर्श-रूप में परिणत हो सकता है, पृथ्वी कैसे स्वर्ग हो सकती है? अरविन्द बाबू की राय है कि रामायण में एक विशुद्ध नैतिक अवस्था का चित्र पाया जाता है। उसमें शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियों का पूर्ण विकास दिखाया गया है। साथ ही इन शक्तियों को स्वभाव की शुद्धता और श्रेष्ठ जीवन के कार्यों का सहायक बनाने की भी आवश्यकता बतलाई गई है।

व्यासजी ने महाभारत में पार्थिव शक्ति की पराकाष्ठा दिखलाकर उसकी निस्सारता दिखलाई है। उन्होंने कर्तव्या-कर्तव्य और धर्माधर्म का बड़ा ही सूक्ष्म निर्णय किया है। स्वर्ग में युधिष्ठिर को यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ था कि उनके धर्मात्मा भाइयों का तो वहाँ पता नहीं, पर अधार्मिक दुर्योधन स्वर्ग की विभूति का उपभोग कर रहा है। बात यह है कि अपने कर्तव्य-क्षेत्र में बलि हो जाना ही धर्म की पराकाष्ठा है।

होमर के दो काव्य प्रसिद्ध हैं—एक का नाम इलियड है, और दूसरे का आडेसी। इलियड में, प्राचीन ग्रीक-इतिहास में प्रसिद्ध 'ट्रोज़न-वार' नामक युद्ध का सविस्तर वर्णन है। प्राचीन काल में, एशिया में एक समृद्धिशाली राज्य था। उसकी राजधानी थी ट्रॉय। उस राज्य के अधीश्वर का नाम प्रायम था। उसका एक पुत्र था पेरिस। पेरिस स्पार्टा-नरेश मैनीलस की स्त्री हेलेन को भगा लाया। इस अप-

मान से क्षुब्ध होकर मैनीलस ने सब ग्रीक राजाओं को एकत्र कर ट्राय पर आक्रमण किया। बड़ा भीषण युद्ध हुआ। अन्त में ग्रीक वीरों ने ट्रॉय को हस्तगत कर ही लिया। यही इलियड की कथा है। आडेसी में यूलेसेस नामक एक ग्रीक-नरेश की यात्रा का वर्णन है।

होमर की कल्पना-शक्ति बड़ी प्रचण्ड थी। उसके काव्यों में एक विलक्षण शक्ति है। महाकाव्यों में कथा पर ही ज़ोर दिया जाता है। पर होमर ने भिन्न-भिन्न चरित्रों की अवतारणा और उनके मानसिक भावों का विश्लेषण कर अपने काव्य को नाटक का रूप दे दिया है। एक विद्वान् समालोचक की राय है कि यदि नाटककारों में होमर को स्थान देना चाहें तो हमें उसे शेक्सपियर के समकक्ष मानना पड़ेगा। इस दृष्टि से उसके काव्यों की तुलना रामायण और महाभारत से नहीं की जा सकती। परन्तु रामायण और महाभारत की तरह होमर के काव्यों ने योरप में एक विचार-धारा प्रवर्तित कर दी है। मनुष्य के जीवन में जिस अदृश्य शक्ति का प्राबल्य है, उससे पृथक् कर उसने मानव-जाति के अध्यात्म-शक्ति-विहीन जीवन का दर्शन करा दिया। हेलेन वैसे ही पार्थिवश्री की प्रतिमा है, जैसे द्रौपदी क्रिया-शक्ति की और सीता विशुद्धि की।

कविता के लिए अलङ्कार भी आवश्यक माने गये हैं। होमर की उपमाओं के विषय में एक समालोचक का कथन

है कि होमर ने भाषा के सौन्दर्य की वृद्धि के लिए उपमा का प्रयोग नहीं किया। वह जिस किसी बात को विशेष प्रभावोत्पादक बनाना चाहता था उसी का उल्लेख उपमा के द्वारा कर देता था। उपमाओं से कवित्व-शक्ति का उच्छ्वास प्रकट होता है। इसलिए प्रयोग उतना ही स्वाभाविक जान पड़ता है जितना उनका प्रभाव। वाल्मीकि की उपमाएँ बड़ी सरल होती हैं, परन्तु व्यास की उपमाओं में एक प्रकार की निरंकुशता है।

होमर की कविता के विषय में मैथ्यू आर्नल्ड साहब का कथन है कि उसके तीन प्रधान गुण हैं पहला गुण है उसका वेग। होमर का कविता-स्रोत गिरि-निर्झर की तरह बड़े वेग से बहता है। उसकी गति कभी शिथिल नहीं होती। उसकी छन्द-योजना भी ऐसी है कि उससे कविता की गति तीव्रतर हो जाती है। दूसरा गुण है भावों की विशदता। होमर की लोक-प्रियता का सबसे बड़ा कारण उसकी प्रासादिक कविता है। तीसरा गुण है भावों की उच्चता, जिससे मनुष्य अपना पशुत्व दूर कर देवोपम हो जाता है। मैथ्यू आर्नल्ड साहब का यह कथन रामायण और महाभारत के लिए भी उपयुक्त है। उनमें भी कविता की निर्बाध धारा, प्रसाद-गुण और स्वर्गीय भाव हैं।

कवि का प्रधान गुण है आदर्श चरित्र की सृष्टि करना। होमर ने आदर्श नर-नारियों के चरित्र अंकित किये हैं,

और व्यास और वाल्मीकि ने भी। परन्तु इनके चरित्रों की परस्पर तुलना नहीं हो सकती। होमर की हेलेन, वाल्मीकि की सीता और व्यास की द्रौपदी, तीनों अद्वितीय हैं। होमर को जैसी सफलता हेलेन के चरित्राङ्कण में हुई है, वैसी ही व्यास और वाल्मीकि को द्रौपदी और सीता के चरित्र-चित्रण में। परन्तु कला की कुशलता पर विचार न कर यदि चरित्र की दिव्यता पर विचार किया जाय तो राम और सीता के चरित्र अद्वितीय हैं।

रामायण में रामचन्द्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो चरित्रों को विशद करने के लिए हुई है। रामचन्द्र पुरुषोत्तम हैं। वे लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं, सत्य-व्रत हैं, शूर हैं। उनमें देव-दुर्लभ गुण हैं। परन्तु यदि राम में सिर्फ़ यही गुण रहते तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मन्दिर में उनका यह स्थान न होता। उनके चरित्र की विशालता और भव्यता देखकर लोग विस्मय-विमुग्ध अवश्य हो जाते, पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचन्द्र को ईश्वर का पद प्राप्त है। उनका नाम-मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भवसागर के पार हो जाता है। मनुष्यों की यह भक्तिभावना उनके अलौकिक चरित्र के कारण नहीं है, किन्तु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी विशाल महिमा से आतङ्क उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचन्द्र ईश्वर थे; पर आर्य थे

वे मनुष्य के ही रूप में। उनमें मनुष्योचित गुण थे। वे पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे। उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राज-राजेश्वर हैं वे दरिद्रों की कुटी का अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु रामचन्द्र ने दारिद्र्य-व्रत भी धारण किया था, वल्कल वस्त्र पहनकर जङ्गल-जङ्गल घूमे थे। तभी तो अधमों को उनके पास जाने का साहस होता है। तुलसीदासजी ने रामचन्द्र के चरित्र में उनकी ईश्वरीय शक्ति का बार-बार स्मरण कराया है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। सच पूछो तो इससे राम-चरित-मानस में बड़ा दोष आ गया है। सीता की वियोग-व्यथा से पीड़ित होकर रामचन्द्रजी ने जो विलापोद्गार किये हैं उन्हें पढ़कर हृदय द्रवीभूत हो जाता है। सम्भव नहीं कि कोई भी पाठक उन स्थलों को पढ़कर—ज ाँ तुलसीदासजी ने करुण-रस का स्रोत बहा दिया है—आँसू न बहावे। परन्तु ऐसे स्थानों में तुलसीदास एकाएक कह देते हैं, ये तो ईश्वर हैं, नर-लीला कर रहे हैं, इन्हें भला सुख-दुःख कहाँ? उस समय हृदय हताश हो जाता है, क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाते हैं। कौशल्या की तरह हम भी हाथ जोड़कर कहते हैं—'भगवन्, आप अपना विश्वरूप मत दिखलाइए। ईश्वर के रूप में मत आइए। हमें आप तपस्वी-रूप में ही दर्शन दीजिए।' इसी प्रकार, धनुष-भङ्ग में सीता के हृदय में आशा और निराशा का जो द्वन्द्व-युद्ध चला

है उससे हृदय-स्पन्दन क्षण भर के लिए रुक जाता है। परन्तु ज्योंही तुलसीदासजी हमें इसका स्मरण कराते हैं कि सीताजी तो जगज्जननी हैं त्योंही हमारा औत्सुक्य नष्ट हो जाता है; क्योंकि तब वे हमसे बहुत दूर हट जाती हैं। जहाँ क्षुद्र मनुष्य के क्षुद्र भाव नहीं पहुँच सकते वहाँ वाल्मीकिजी ने रामचन्द्रजी की ईश्वरता पर ज़ोर नहीं दिया है; उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के लिए उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीताजी के चरित्र-चित्रण में तो उन्हें बड़ी सफलता हुई है। ऐसा दिव्य-चरित्र किसी अन्य कवि ने अङ्कित नहीं किया। यही कारण है कि हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी वाल्मीकि का मधुर गान, भारतीय नर-नारियों के कानों में, आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या का ध्वंस हो गया; किन्तु हिन्दू-समाज के हृदय में अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में हिन्दू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा।

१४—कैम्ब्रिज

[श्रीयुत ए० सी० बनर्जी]

कैम्ब्रिज नाम ही मनोमोहक है। उसमें उसके भक्तों के लिए एक विशेष प्रकार का सौन्दर्य है। उन्हें वह मुग्ध कर लेता है। वह आनन्द और स्फूर्ति का स्रोत है। उसकी

इमारतें, उसका ऐतिह्य, उसकी प्राचीन वस्तुएँ यहाँ तक कि उसके 'लान' और उद्यान अपनी-अपनी विशेषता रखते हैं। उनका अपना ख़ास महत्त्व है। उनकी भव्यता का अनुभव सभी सहृदय कर सकते हैं। एक या दो दिन में कैम्ब्रिज की महत्ता नहीं जानी जा सकती। उसका महत्त्व जानने के लिए वर्षों की ज़रूरत है। सौभाग्यवश कैम्ब्रिज में मुझे चार वर्ष रहने का अवसर मिला, तो भी मैं यह बात नहीं कह सकता कि उसका असली रूप देखने तथा उसका वास्तविक महत्त्व जानने में मैं समर्थ हुआ हूँ।

संसार के प्राचीनतम विश्व-विद्यालयों में से एक कैम्ब्रिज भी है। इस बात का गर्व वह कर सकता है। इस विश्व-विद्यालय का कैसे और किस ढङ्ग से विकास हुआ, इसका रहस्य अभी तक पुराविदों को भी अज्ञात है। पहले कैम्ब्रिज एक सरहदी क़स्बा था। उसके बीच से होकर एक सड़क सीधी लन्दन को गई थी। एक समय कैम नदी का बड़ा पुल ही पूर्वी और मध्यदेश की काउन्टियों के बीच का मुख्य मार्ग था। अतएव वह एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र हो गया। वहाँ प्रतिवर्ष एक मेला लगने लगा। मेले में देश भर के बहुसंख्यक विद्वान्, यहाँ तक कि योरप के भी, एकत्र होने लगे। मेले में धर्म-प्रचार करने तथा विभिन्न विषयों पर सर्वप्रिय व्याख्यान देने की विशेष सुविधा थी। क्रमशः इन विद्वानों में से कुछ लोग वहाँ ठहरने लगे। इन लोगों ने अपने-अपने

मठ स्थापित किये। यहाँ ये लोग विद्या-प्रेमी विद्यार्थियों को भी लाकर रखते। धीरे-धीरे इन मठों की समुन्नति होने लगी और यथासमय वे एक विश्वविद्यालय की सर्वकालीन संस्थाओं के रूप में परिणत हो गये। उन विद्वद्वरिष्ठों को साधुवाद है जो सर्वप्रथम कैम नदी के तट पर एकत्र हुए और बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के रहते हुए भी जिन्होंने लोगों में विद्या की अभिरुचि जाग्रत् करने का प्रयत्न किया था। इस समय कैम्ब्रिज की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ विश्वविद्यालयों में है। वहाँ कुल उन्नीस कालेज हैं। इनमें सत्रह बालकों और दो बालिकाओं के लिए हैं। कालेजों के निर्माण या उनके स्थापन का विचार होने से और भी अधिक पहले विश्वविद्यालय अस्तित्व में आ गया था। कालेजों का स्थापन पीछे से सर्वसाधारण के चन्दे से हुआ था। यही विश्वविद्यालय में अङ्गीभूत किये गये थे। इनमें पीटर-हाउस प्राचीनतम है। मैं जिस क्लेर कालेज में पढ़ता था उसका, प्राचीनता में, दूसरा नम्बर है। परन्तु ट्रिनिटी कालेज सबसे अधिक सम्पन्न और बड़ा है।

कैम्ब्रिज के 'विद्यार्थि-जीवन' का रहस्योद्घाटन शब्दों-द्वारा असम्भव है। वहाँ के 'विद्यार्थि-जीवन' का अपना एक लक्ष्य है। वह अन्यत्र दुर्लभ है। वह एक ऐसी वस्तु है जिसका यथार्थ अनुभव केवल वही लोग कर सकते हैं जिन्हें वहाँ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है और जो कालेज के सब खेलों तथा दूसरे कामों में, जो वास्तव में उसके मुख्य अङ्ग हैं, भाग

लेते रहे हैं। जिस आदमी ने कैम्ब्रिज में शिक्षा पाई है उसके आचार-व्यवहार, ज्ञान-विकास और आमोद-प्रमोद पर कैम्ब्रिज की छाप लगी रहती है। वह युवक को सर्वोत्कृष्ट वस्तु प्रदान करता है। इसका मतलब यह नहीं कि जो शिक्षा कैम्ब्रिज में मिलती है वह पूर्ण होती है। मैं स्वीकार करता हूँ कि वहाँ के शिक्षा-क्रम में अनेक दोष हैं, और सुधार करने की बहुत गुञ्जायश है। यदि और भी अधिक कड़ी आलोचना की जाय तो किसी-किसी को उसमें बहुत अधिक छिद्र भी मिलेंगे। असल में शिक्षा की कोई पद्धति कभी पूर्ण नहीं हो सकती। मैं आगे कैम्ब्रिज की शिक्षा-पद्धति के कुछ दोष प्रकट करूँगा। वहाँ का विश्वविद्यालय रेसीडेंशिल ढङ्ग का है। छात्रों को कालेजों या लायसेंस-प्राप्त घरों में निवास करना पड़ता है। विश्वविद्यालय के नियमों और विधानों के पालन करने को वे सर्वथा बाध्य हैं। प्रत्येक सेशन तीन टर्मों में विभाजित है। टर्म उस समय को कहते हैं जब विश्वविद्यालय और कालेजों में काम होता रहता है। मोटे हिसाब से प्रत्येक टर्म आठ से दस हफ़्ते तक रहता है। प्रत्येक टर्म के बाद लगभग छः हफ़्ते की छुट्टी रहती है। इसके सिवा चार महीने की लम्बी छुट्टी अलग दी जाती है। यह ढङ्ग बहुत अच्छा है। दो महीने तक ठोस काम करने के बाद मस्तिष्क थक जाता है। उसे ताज़ा होने के लिए एक महीने के विश्राम की आवश्यकता है। मैं यह भी समझता हूँ कि यदि यह पद्धति इस देश में स्वीकार की

जाय तो और भी अच्छा हो। परन्तु मैं जानता हूँ कि यह परिवर्तन करने में कई प्रकार की कठिनाइयों को भी पार करना पड़ेगा।

हमारे यहाँ से कैम्ब्रिज की परीक्षा-प्रणाली भिन्न है। वहाँ की प्रणाली में रटने से काम नहीं चलता और हमारे यहाँ रटने के लिए विद्यार्थी उत्साहित किये जाते हैं। वहाँ के परीक्षक यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि विद्यार्थी क्या जानते हैं। इसके विपरीत हमारे यहाँ के परीक्षक वह जानने का प्रयत्न करते हैं जो विद्यार्थी नहीं जानते। कैम्ब्रिज में नम्बर देने में जल्दी और कड़ाई से काम नहीं लिया जाता। वहाँ परीक्षक मिलकर यह तय करते हैं कि विद्यार्थी किस प्रकार श्रेणीबद्ध किया जाय। यहाँ यदि कोई विद्यार्थी ३५९ नम्बर पा जाय तो वह दूसरी श्रेणी में रक्खा जाता है और यदि वह ३६० नम्बर पावे तो प्रथम श्रेणी में परिगणित होता है, यद्यपि इन दोनों की योग्यता में मुश्किल से कोई अन्तर रहता है। कैम्ब्रिज में ये दोनों छात्र एक ही श्रेणी में रक्खे जायँगे। वहाँ प्रथम श्रेणी के सबसे कम नम्बर पानेवाले छात्र तथा द्वितीय श्रेणी के सबसे अधिक नम्बर पानेवाले छात्र में स्पष्ट अन्तर रहता है। मेरी समझ में कैम्ब्रिज की प्रणाली अधिक उचित और ठीक है। वहाँ की शिक्षा-प्रणाली में एक दूसरी विशेष बात यह है कि किसी विषय की प्रत्येक शाखा में हम उत्कृष्ट छात्रों में से उत्कृष्ट छात्र को प्राप्त कर लेते हैं।

कैम्ब्रिज के कालेज तीन समूहों में विभक्त हैं। प्रत्येक समूह में इन्टर कालिजिएट लेक्चर होते हैं। प्रत्येक कालेज में गणित आदि प्रत्येक विषय के लिए एक या कई लेक्चरर होते हैं। प्रत्येक लेक्चरर अपने विषय की किसी शाखा का विशेषज्ञ होता है और वह केवल उसी शाखा पर लेक्चर देता है जिस समूह के अन्तर्गत उसका कालेज होता है उस समूह के सब कालेजों के छात्र उसके लेक्चर सुनने को उसके पास आते हैं और उससे अत्यन्त अधिक लाभ उठाते हैं। वे विश्वविद्यालय में सुलभ, अत्यन्त निपुण व्यक्तियों के प्रत्येक विषयों की प्रत्येक शाखा पर लेक्चर सुनकर बहुत अधिक लाभान्वित होते हैं। मैं नहीं जानता कि हमारे विश्वविद्यालय और कालेज इस पद्धति का अनुकरण करेंगे। यहाँ किसी एक विषय के प्रोफ़ेसर को उसकी भिन्न-भिन्न शाखाओं पर लेक्चर देने पड़ते हैं। अतएव इस बात की आशा नहीं की जा सकती कि वह सभी में निष्णात होगा। फलतः छात्र उससे उतना अधिक उपकृत नहीं होते जितनी कि आशा की जाती है।

कैम्ब्रिज में शिक्षक और लेक्चरर बड़ी स्वच्छन्दता से छात्रों से मिलते हैं और उनके साथ मित्र जैसा व्यवहार करते हैं। शायद हमारे कालेजों का वायुमण्डल इस प्रकार के मेल-जोल के लिए अनुकूल नहीं है।

यहाँ एक बात को देखकर मुझे आश्चर्य होता है कि अनेक छात्र अपने स्वास्थ्य की ओर समुचित ध्यान नहीं देते।

सम्भवतः उनमें से कुछ किताबों के कीड़े हैं और आधी रात तक चिराग़ जलाये डटे रहते हैं। दूसरे लोग अपने स्वास्थ्य की ओर ध्यान नहीं देते और शारीरिक व्यायाम के वास्तविक महत्त्व को नहीं समझते हैं। इँगलेंड में बालक सुदृढ़ और स्वस्थ शरीर का महत्त्व जानते हैं। वे नियमित रूप से खेल-कूद में तथा दूसरी तादृश बातों में भाग लेते रहते हैं। वे अपनी आदतों को सुव्यवस्थित रखते हैं। वे समझते हैं कि अपने आपको उपयुक्त बनाये रखने के लिए मस्तिष्क-सम्बन्धी परिश्रम की घटी शारीरिक व्यायाम से पूरी करनी चाहिए। किसी सीनियर रेंगलर ने दिन में छः घण्टे से अधिक काम नहीं किया है। वे जानते हैं कि मस्तिष्क की क्षमता की भी सीमा होती है। जब वह अपनी उस सीमा को पहुँच जाता है तब कोई कार्य नहीं हो सकता। यदि उस दशा में मस्तिष्क से और अधिक काम लिया जाय तो उसका परिणाम विपरीत ही होता है।

कैम्ब्रिज के ढङ्ग के किसी रेसीडेन्शियल विश्वविद्यालय में शामिल होने से जो सबसे अधिक लाभ हम उठा सकते हैं वह यह है कि हम विद्यामय वायुमण्डल में रहने लगते हैं। हम उसके सामाजिक जीवन में प्रविष्ट होते हैं, उसके सामाजिक जीवन का उपभोग करते हैं, विश्व-विद्यालय से सम्बन्ध रखने-वाले विभिन्न कार्यों में भाग लेते हैं, विभिन्न जातियों के लोगों से मिलते-जुलते हैं, अनेकों से मित्रता करते हैं, हमारी दृष्टि

विस्तृत हो जाती है, हम अनुभव करते हैं कि संसार कितना विस्तृत है; हम सङ्कीर्ण प्रान्तिकता, अनुदार राष्ट्रीयता और कट्टर साम्राज्यवाद को अतिक्रमण कर जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से देखने लगते हैं। हम यह भी अनुभव करने लगते हैं कि हम विश्व के एक निवासी हैं। किन्तु यहाँ हम लोग ईर्ष्या के तुच्छ भावों तथा सङ्कीर्ण प्रान्तिकता के ही फेर में अत्यधिक पड़े रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीयता तो हमारे लिए एक दूर का आदर्श है—हमें सर्वप्रथम एक राष्ट्र होना चाहिए और केवल तभी हम अन्तर्राष्ट्रीयता का, जो सभ्य जगत् का अन्तिम लक्ष्य है, विचार कर सकते हैं।

हमें राष्ट्रीयता के ही द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता प्राप्त होगी। उससे हम इस आदर्श को भूल नहीं जायँगे। कोई आदमी बिना पेड़ों और डालों पर चढ़े वृक्ष की चोटी को नहीं पा सकता। कैम्ब्रिज ने मुझे भारत को राष्ट्र के रूप में देखने की शिक्षा दी है। मैंने उसके सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना था, परन्तु वह क्या था, इसका अनुभव मुझे नहीं था; क्योंकि मैं भारत के अधिकांश प्रान्तों के सम्बन्ध में बहुत कम जानता था और उसके अनेक प्रान्तों के निवासियों में से कोई भी ऐसा नहीं था जिसकी मित्रता का मैं गर्व कर सकता था। कैम्ब्रिज में मुझे विभिन्न प्रान्तों के बुद्धिमान् और उच्च रूप से शिक्षित भारतीय मिले। उनमें कई मेरे मित्र बन गये और तब मैंने स्वच्छन्दरूप से उनसे बातें कीं। अपने साधारण उद्देश्यों

और कामनाओं को वादविवाद से निश्चित किया, उनसे उनकी रीतियाँ और ढङ्ग सीखे, और सबमें एक ही उद्देश और देश-प्रेम समानरूप से पाया। इन सबने मुझे भारत को राष्ट्र के रूप में अनुभव करने में बहुत कुछ सहायता प्रदान की।

कैम्ब्रिज सदा कुछ न कुछ सनातनी भाव रखता है। मैं नहीं जानता कि यह उसका दोष है या गुण—मेरी समझ में दोनों हैं। शीघ्रता में किये गये परिवर्तन कभी-कभी नाजुक और निर्बल होते हैं, विशेष कर यदि वे ठोस नींव पर अधिष्ठित नहीं होते। कोई परिवर्तन करने के लिए उस पर दो बार विचार कर लेना शायद कभी-कभी बुद्धिमानी का काम होता है। परन्तु जब यह आलस्य के अन्तिम दर्जे को पहुँच जाता है तब वह गुण नहीं है। पिछले युद्ध के समय एस्कीथ की 'ठहरो और देखो' वाली नीति इँगलेंड के पक्ष में भयङ्कर थी और जब क्रियाशील और ओजस्वी लायड जार्ज कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए तब पाँसा उलटा गया और युद्ध में इँगलेंड की जीत हुई।

गत सदी के पिछले भाग में इँगलेंड गणित के क्षेत्र में कोई नई बात कर दिखाने में योरप के बहुत पीछे रह गया था। कैम्ब्रिज की गणित-शिक्षा में खोज या मौलिक विचार के लिए अधिक अवसर नहीं है। रैंगलर-शिप परीक्षा गणित के प्रश्नों या कूटों को शीघ्रता से हल कर लेने की शक्ति के जाँचने के लिये कसौटी भर थी। जो आदमी बहुत ही कम घबराने-

वाला होता था और अत्यन्त अधिक शीघ्रता से प्रश्न हल कर लेता था वह स्वभावतः परीक्षा में प्रथम निकलता था। परन्तु इससे यह प्रकट नहीं होता कि वह वास्तव में विषय को समझ गया था और मौलिक विचार-शक्ति रखता था। इस प्रकार की मुक़ाबिले की परीक्षाएँ पबलिक आफ़िसों की योग्यता के लिए, जहाँ शीघ्रता और शीघ्र निर्णय-बुद्धि परमावश्यक है, एक वास्तविक कसौटी हो सकती है। परन्तु यह जाँचने के लिए कि कोई व्यक्ति किसी एक विषय का वास्तविक ज्ञान रखता है या नहीं, वह किसी मतलब की नहीं है। यह सच है कि अनेक सीनियर रैंगलर गणित और फ़िज़िक्स में प्रसिद्ध व्यक्ति हो गये हैं, परन्तु सीनियर रैंगलर की पदवी सदा मौलिक खोज तथा विचार-शक्ति का निदर्शक नहीं है। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अधिकारी वर्तमान सदी के प्रारम्भ में इसका अनुभव करने लगे और उन्होंने रैंगलर-शिप तथा योग्यता जाँचनेवाली मुक़ाबिले की परीक्षा-पद्धति उठा देने में प्रशंसनीय साहस दिखलाया है। उन लोगों ने पाठ्य-विषय का परिवर्तन करके मौलिक खोज के लिए पूर्ण सुयोग उपस्थित कर दिया है। अब कैम्ब्रिज अपने खोये हुए स्थान की पुनःप्राप्ति और खोज के काम में योरप को पा लेने के लिए घोर परिश्रम कर रहा है। अब हम वहाँ कैम्ब्रिज के गणितज्ञों का एक नवीन उत्साही 'स्कूल' पा सकते हैं। वह बहुत योग्य, बहुत मौलिक है और उच्चतम महत्त्वपूर्ण खोज का काम कर रहा है। शुष्क गणि-

तज्ञ हार्डी और ज्योतिर्विद् एडिंगटन इसी 'स्कूल' के प्रसिद्ध विद्वान् हैं।

सनातनी ढङ्ग का एक दूसरा उदाहरण यह है कि कैम्ब्रिज ने अब तक स्त्रियों को डिग्रियाँ नहीं दीं। वास्तव में यह आश्चर्य की बात थी कि ये दो प्रधान विश्वविद्यालय (आक्सफ़र्ड और कैम्ब्रिज) स्त्रियों को यह सुविधा प्रदान करने से अब तक इनकार करते रहे। सम्भवतः जो स्वाभाविक सनातनवाद इन केन्द्रों के प्रचलित है वही इसके लिए दोषी है। जो लोग विश्वविद्यालय के उच्च अधिकारी हैं या जिनका उससे प्रत्यक्ष सम्बन्ध है वे शायद इतने अधिक दोषी नहीं। मैं जानता हूँ कि स्त्रियों को डिग्रियाँ प्रदान करने का प्रस्ताव सीनेट में कई बार उपस्थित किया गया था। वह कैम्ब्रिज के फ़ेलो तथा लेक्चरर आदि के कारण नहीं, किन्तु देश भर के पादरियों, क्लर्जीमेन, क्यूरेट इत्यादि के कारण अस्वीकृत हुआ था। इनमें से अनेक कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एम० ए० हैं। 'विद्यालय' के प्रत्येक एम० ए० को सीनेट में वोट देने का अधिकार प्राप्त है। जब ऐसा कोई प्रस्ताव सीनेट में उपस्थित किया जाता है तब ये मानवी आत्मा रखनेवाले कैम्ब्रिज में एकत्र होते हैं और उसके विरुद्ध वोट देकर प्रस्ताव को गिरा देते हैं। धर्मशास्त्री सर्वत्र कट्टर होते हैं। उनका आदर करते तथा यह मानते हुए कि उन्होंने समाज को सदाचार-पूर्ण रखने के प्रयत्न में बड़ी भलाई की है, मैं यह कहने को बाध्य

हूँ कि उन्होंने किसी मानव-समुन्नति-सम्बन्धिनी बात का समय-असमय विरोध करने के प्रयत्न में अधिक हानि भी की है। इस विषय में प्रत्येक देश में इतिहास स्वयं साक्ष्य देता है, चाहे वह इँगलेंड हो, चाहे भारत या चीन।

कैम्ब्रिज की शिक्षा-प्रणाली में एक मुख्य दोष यह है कि वह जाति-गत अभिमान जाग्रत करने में सहायता देती है। वहाँ की शिक्षा बहुत महँगी है। उसे बहुत कम ग़रीब लोग प्राप्त करने की आशा कर सकते हैं। उनमें से जो बहुत तेज़ और अच्छी छात्रवृत्तियाँ प्राप्त करने में समर्थ होते हैं वही वहाँ अध्ययन कर सकते हैं। केवल बहुत धनी लोग ही कैम्ब्रिज को अपने लड़के भेजने में समर्थ होते हैं। इससे उनमें जाति-गत श्रेष्ठता का भाव उत्पन्न होता है। शायद यह भाव अनेच्छित होता है और अज्ञात-रूप से आ जमता है, परन्तु तो भी समानता तथा प्रजातान्त्रिक भावना के ज़माने में यह बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। कैम्ब्रिज में विद्यार्थी बड़े सुख से रहते हैं। प्रत्येक विद्यार्थी के लिए अलग-अलग सोने और बैठने के कमरे होते हैं। ये सारी आवश्यक सामग्री से सुसज्जित रहते हैं। नगर भर में उनके साथ बड़े आदर और सम्मान का व्यवहार होता है। सिनेमा तथा थियेटर जैसे आमोद के स्थानों में विश्वविद्यालय के नियमानुसार बहुत ही अच्छे स्थान बुक करा लेने का अधिकार उनको प्राप्त है। ये सब बातें उस छात्र के मन में, जो अभी नवयुवक तथा उत्साही

होता है, यह भाव उत्पन्न करने का कारण होती हैं कि मैं भी कुछ हूँ और जो लोग उसके समान भाग्यशाली नहीं होते उन्हें वह तुच्छ समझने लगता है। परन्तु इसमें भी एक सुन्दर रूप रहता है। वह यह है कि यह आत्मसम्मान का भाव जाग्रत् करता है। परन्तु हमें उसके दूषित अंश को नहीं भूलना चाहिए अर्थात् वह अभिमान का भी उत्पादक है। यह शिक्षा विश्वविद्यालय के सदस्यों के विशाल बहुमत के राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों में भी अपने आप परिलक्षित होती है। वे अपने विचारों में बहुत कट्टर तथा दूसरों की सम्मतियों के प्रति असहनशील होते हैं। यह असहनशीलता कुछ वर्ष बीते हद दर्जे को पहुँच गई थी। विश्वविद्यालय के मुट्ठी भर साम्यवादी सदस्यों ने 'फ्रेन्ड्स यूनियन' नामक अपनी एक सभा खोली थी। टर्म के समय वे लोग प्रत्येक शुक्रवार की रात में अपना जलसा करते थे। दिसम्बर के महीने में एक दिन वे अपनी सभा कर रहे थे कि इतने में ही कई सौ अण्डर ग्रेजुएट छात्रों ने उन पर धावा कर दिया। वे उनके सभापति, उपसभापति और मन्त्री को कैम नदी पर घसीट ले गये और ग्यारह बजे रात में उन्हें बर्फ़ीले ठण्ढे पानी में लगभग आध घण्टे तक डुबकाते रहे। प्रोक्टर और पुलिसवाले इस घटना को रोकने में असमर्थ रहे। जाड़े की रात में उन तीनों की दशा का विचार करो। वे तीनों वहाँ तब तक बेहोश पड़े रहे जब तक उनके कुछ मित्रों ने आकर उन्हें नह

छुड़ाया और ब्रैंडी तथा होश में लानेवाली दूसरी वस्तुओं का उपचार कर फिर जीवन-दान नहीं दिया। कोई व्यक्ति साम्य-वादात्मक विचारों को भले ही न माने, परन्तु इस प्रकार की असहनशीलता न्याययुक्त कदापि नहीं हो सकती।

कैम्ब्रिज में 'कैम्ब्रिज यूनियन' एक बहुत बड़ी डिबेटिंग सभा है। अनेक प्रसिद्ध अँगरेज़ राजनीतिज्ञ किसी न किसी समय कैम्ब्रिज तथा आक्सफ़र्ड यूनियन नामक सभाओं के सभापति रह चुके हैं। अँगरेज़ी-विश्वविद्यालय राजनीतिज्ञों के लिए शिक्षण-संस्थाएँ भी हैं। यह सही है कि विद्यार्थी राजनीति में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते, परन्तु वे अपनी सभाओं में राजनीति के प्रचलित विषयों तथा घटनाओं पर वाद-विवाद करते हैं। कैम्ब्रिज के प्रत्येक कालेज की अपनी डिबेटिंग सोसायटी और भारतीय विद्यार्थियों की भी भारतीय मजलिसें होती हैं। इनके सिवा वहाँ हेरेटिक्स, फ्रैंड्स यूनियन जैसी दूसरी सभाएँ भी हैं। सौभाग्यवश कैम्ब्रिज में एक प्रसिद्ध भारतीय के दर्शनों का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। मेरा मतलब प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुजम् से है। यही पहला भारतीय रायल सोसायटी का फ़ेलो पहले-पहल हुआ है। बत्तीस वर्ष के वय में ही इनकी मृत्यु हो गई। ये कई बातों में विलक्षण थे। गणितज्ञ-प्रवर हार्डी साहब ने इनके सम्बन्ध में कहा था—'यदि रामानुजम् ने आधुनिक गणित का अध्ययन २६ वर्ष के स्थान में १६ वर्ष के वय में प्रारम्भ किया होता और अधिक समय तक जीवित

रहता तो वह अपने समय का सर्वश्रेष्ठ गणितज्ञ होता।' इनकी अकाल-मृत्यु से हमारे देश की बहुत बड़ी हानि हुई। अन्त में मुझे कहना चाहिए कि कैम्ब्रिज में मेरा समय बड़े सुख में व्यतीत हुआ और जो कुछ उसने मेरे साथ किया है उसके लिए मैं उसका सदा कृतज्ञ हूँ। मुझे यह कहना ही पड़ता है कि कैम्ब्रिज, मैं तुझे—सारे दोषों के रहते हुए भी—प्यार करता हूँ।

१५—चिदानन्द की चिट्ठी

[पं० रूपनारायण पाण्डेय]

सम्पादक महाशय, आपको पत्र क्या लिखूँ—लिखने में बाधा डालनेवाले अनेक शत्रु हैं। मैं इस समय जिस झोपड़े में रहता हूँ उसके पास ही दुर्भाग्यवश मैंने दो-तीन फूलों के पेड़ लगा दिये हैं। मैंने सोचा था, चिदानन्द के कोई नहीं है—यही फूल मेरे सखा-सखी होंगे। इन्हें ख़ुशामद करके प्रफुल्लित प्रसन्न करने की ज़रूरत नहीं, इनके लिए रुपया लुटाने की आवश्यकता नहीं, इन्हें गहने न देने पड़ेंगे। इनका मन रखने के लिए चापलूसी की बातें न करनी पड़ेंगी। ये अपने सुख से आप ही खिल उठेंगे। इनमें ँसी है, रोना नहीं; प्रसन्नता है, रूठना नहीं। मैंने समझा था कि श्यामा ग्वालिन से मुझसे बिगाड़ हो गया है तो

क्या—उसने मुझे तज दिया है तो क्या, इन फूलों से मैं दोस्ती करूँगा।

सो, फूल भी खिले—वे हँसने भी लगे। मैंने सोचा—सम्पादकजी! मैं सोचने ही कहाँ पाया, फूलों को खिलते देखकर झुण्ड के झुण्ड भौंरे, ममाखी और भिड़ें इत्यादि रस की खोज करनेवाले रसिक आकर मेरे द्वार पर डट गये। और वे गुनगुन, भनभन, घें-घें करके जी जलाने लगे। उनको बहुत कुछ समझाकर मैंने कहा—"सज्जनो—महाशयो! यह सभा नहीं, समाज नहीं, एसोसियेशन, लीग, सोसाइटी, क्लब आदि कुछ भी नहीं—यह चिदानन्द की झोपड़ी है। आप लोगों को भनभन, घें-घें करना हो तो अन्यत्र जाइए। मैं और अब कोई प्रस्ताव करने के लिए तैयार नहीं हूँ—आप लोग दूसरी जगह पधारें। परन्तु गुनगुन, भनभन करनेवाला दल किसी तरह नहीं माना—उलटे वे लोग फूलों के पेड़ छोड़-कर मेरी झोपड़ी के द्वार पर हल्ला करने लगे। अभी-अभी मैंने आपको पत्र लिखना शुरू किया (अब भङ्ग का नशा उतर चला है)—इसी समय एक भौंरा, काजल सा काला असल भौंरा भन-से उड़कर आया, और मेरे कानों के पास भनभन करने लगा। अब बतलाइए महाशय, आपको पत्र कैसे लिखूँ?

भ्रमर भैया अपने को बहुत ही रसिक और अच्छा व्याख्यानदाता समझते हैं। उन्होंने समझा कि उनकी

भनभनाहट से मुझे सुख मिलेगा, मेरा जी जुड़ा जायगा। मेरे ही फूलों की पँखड़ियाँ तोड़कर मेरे ही कानों के पास भन-भन! क्रोध के मारे मैं अग्निशर्मा हो गया—मेरे हाड़ जल उठे। मैं हाथ में पंखा ले भौंरे से भिड़ गया। तब मैं घूर्णन, विघूर्णन, संघूर्णन आदि विविध वक्र गतियों से पंखे का अस्त्र चलाने लगा; भौंरा भी डीन, उड्डीन, प्रडीन, समाडीन आदि अनेक पैतरे बदलकर अपनी फुर्ती दिखाने लगा। मैं श्रीचिदानन्द चौबे—चिट्ठारूपी मुक्तावली का लेखक हूँ, किन्तु हाय रे मनुष्य के पराक्रम! तू अत्यन्त असार है! तू सदा मनुष्य को धोखा देकर अन्त को अपनी असारता प्रमाणित कर देता है। तूने जामा के मैदान में हैनबल को, पलटोवा के मैदान में चार्ल्स को, वाटलू के मैदान में नेपोलियन को और आज इस भ्रमर-समर में चिदानन्द को ख़ूब ही धोखा दिया। मैं जितना ही पंखा घुमाकर, हवा पैदा कर, भौंरे को उड़ाने लगा उतना ही वह दुष्ट घूम-फिरकर मेरे सिर पर चढ़कर भनभन करने लगा। वह कभी मेरे कपड़ों में छिपकर, बादल की आड़ से मेघनाद की तरह युद्ध करने लगा; और कभी कुम्भकर्ण से लड़नेवाली राम की सेना की तरह मेरी बग़ल से निकलकर मुझे खिझाने लगा। वह कभी सैम्सन की तरह मेरे बालों में ही मेरा सारा पराक्रम सञ्चित समझकर मेरे शरद ऋतु के बादल सरीखे घुँघराले श्वेतश्याम केशों में घुसकर भेरी बजाने लगा। तब काटने के डर से घबड़ाकर मुझे युद्ध छोड़

भागना पड़ा। उसने भी पीछा किया। उसी समय चौखट में ठोकर खाकर चिदानन्द शर्मा "पपात धरणीतले!!!" इस संसार के संग्राम में महारथी चिदानन्द शर्मा,—जो कभी दारिद्र्य, चिरकौमार और भङ्ग आदि से भी नहीं परास्त हुए,—हाय! आज इस साधारण जीव से हार गये।

तब शरीर से धूल झाड़ता हुआ मैं उठ खड़ा हुआ, और हाथ जोड़कर भ्रमरराज से इस प्रकार क्षमा-प्रार्थना करने लगा। मैंने कहा—"हे द्विरेफसत्तम! इस ग़रीब ब्राह्मण ने तुम्हारा क्या अपराध किया है, जो तुम उसके लिखने-पढ़ने में बाधा डालने आये हो। देखो, मैं वङ्गदर्शन-सम्पादक को यह पत्र लिखने बैठा हूँ—पत्र लिखने से भङ्ग आवेगी—तुम क्यों भनभन करके उसमें विघ्न डाल रहे हो?" मैं आज सबेरे एक हिन्दी का नाटक पढ़ रहा था, अकस्मात् उसी नाटक की धुन में मैंने कहा—"हे भृङ्ग! हे अनङ्गरङ्ग की तरङ्ग बढ़ानेवाले! हे बाग़-विहारी! तुम क्यों भनभन कर रहे हो? हे भृङ्ग! हे द्विरेफ! हे षट्पद! हे अलि! हे भ्रमर! हे भौंरे! हे भनभन!—"

अपने सहस्रनाम-पाठ से प्रसन्न होकर भौंरा मेरे सामने आ बैठा। वह गुनगुन करके गला साफ़ कर कहने लगा—आप जानते ही हैं कि मैं भङ्ग भगवती की कृपा से सब प्राणियों की बातें समझ सकता हूँ। मैं कान लगाकर सुनने लगा।

मधुकर बोला—"विप्रदेव! मेरे ही ऊपर इतना क्रोध क्यों है? क्या मैं ही अकेला भनभन करता हूँ? तुम्हारी

इस भारतभूमि में जन्म लेकर भनभन न करूँ तो क्या करूँ? कौन हिन्दुस्तानी भनभन नहीं करता? भनभन के सिवा भारतवासियों को और रोज़गार ही क्या है? तुम लोगों में जो लोग राजा महाराजा या आनरेबल आदि हैं वे कौंसिलों में बैठकर भनभन करते हैं। जो लोग राजा या रायबहादुर होने के उम्मेदवार हैं वे दिन-रात राजदर्बार में या साहबों के पास जाकर भनभन करते हैं। जो केवल एक नौकरी के उम्मेदवार हैं उनकी भनभनाहट का तो अन्त ही नहीं। हिन्दुस्तानी बाबू लोग, जिन्होंने थोड़ी-बहुत अँगरेज़ी सीख ली है, हाथ में दर्ख़्वास्त या सिफ़ारिशी चिट्ठी लिये उम्मेदवार बनकर दर्वाज़े-दर्वाज़े भनभन करते फिरते हैं। वे मच्छड़ों की तरह खाते-पीते, सोते-बैठते, चलते-फिरते, दिन को, रात को, सबेरे, दोपहर, तीसरे पहर, शाम को, हर घड़ी, भनभन करके सताया करते हैं। जो लोग उम्मेदवारी छोड़कर स्वाधीन वकील-बैरिस्टर हो गये हैं वे सनदयाफ्ता भनभनानेवाले हैं। वे सच-झूठ के सागरसङ्गम में प्रातःस्नान करके, जहाँ देखते हैं कि बड़े जज, छोटे जज, सबजज, डिपुटी, मुन्सिफ़ आदि बैठे हैं, वहीं जाकर भनभनाहट का फुहारा छोड़ने लगते हैं। कोई लोग भनभनाहट के द्वारा देश का उद्धार करने के विचार से सभा में लड़के-वाले और बुड्ढों को जमाकर भनभन करने लगते हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो किसी देश में वर्षा न होने का समाचार पाकर उसी के लिए दस-बीस आदमियों को

जमाकर भनभनाने लगते हैं। कुछ ऐसे हैं जो कहते हैं, हम लोगों को बड़ी-बड़ी नौकरियाँ नहीं मिलतीं, आओ भाई, सब मिलकर भनभन करें—अमुक रईस की माँ मर गई है, आओ भाई, उसका स्मारक स्थापित करने के लिए भनभन करें। कुछ लोग ऐसे हैं जिनको इसमें भी सन्तोष नहीं होता; वे काग़ज़-क़लम लेकर हर सप्ताह, हर महीने, हर रोज़ भनभन-भनभन करते रहते हैं। और तुम भैया, जो मेरी भनभनाहट से इतना चिढ़ रहे हो, क्या करने बैठे हो? तुम भी 'वङ्गदर्शन' के सम्पादक से भङ्ग पाने की अभिलाषा करके भनभन करने बैठे हो। तब फिर मेरी ही भनभनाहट क्यों इतनी बुरी लगती है?

"तुमसे सच कहता हूँ चिदानन्द! तुम्हारी जाति की भन-भनाहट मुझे भी अच्छी नहीं लगती। मैं एक साधारण कीड़ा हूँ, मैं भी केवल भनभन नहीं करता। हम लोग मधु-संग्रह करते हैं और जत्था बाँधते हैं। तुम लोग न मधु-संग्रह करना जानते हो, और न जत्था बाँधना—जानते हो केवल भनभन करना। तुमको कोई काम करने का सलीका नहीं; केवल रोनी औरतों की तरह दिन-रात भनभन कर सकते हो। ज़रा बकबक करना और लिखना-पढ़ना कम करके काम में मन लगाओ—तभी तुम्हारी श्रीवृद्धि हो सकती है। मधु-सङ्ग्रह करना सीखो, मधुकर की तरह एका करके जत्था जोड़ना सीखो। तुम्हारी जीभ और क़लम से तो हमारा डङ्क ही अच्छा

है। तुम्हारे वाक्यों से या क़लम से कोई नहीं डरता, परन्तु देखो, हमारे डङ्क से सब लोग घबड़ाते हैं। स्वर्ग में इन्द्र का वज्र है, पृथ्वी पर अँगरेज़ की तोप है और आकाश-मार्ग में हमारा डङ्क है। अस्तु, प्रयोजन इतना ही है कि मधु-संग्रह करो और काम में लगाओ। अगर देखो कि जीभ और हाथों की खुजली के मारे काम में मन लगता ही नहीं तो जीभ काट-कर काम में हाथ लगाओ—अवश्य काम में मन लगेगा।"

यों कहकर भ्रमर भैया भन से उड़ गये। मैंने सोचा, यह भौंरा अवश्य ही बड़ा पण्डित है। सुना जाता है कि यदि किसी मनुष्य की पद-वृद्धि हो तो वह होशियार और विज्ञ समझा जाता है। इसी कारण दो पदवाले मनुष्यों से चार पदवाले पशुओं को—अथवा जिन मनुष्यों की पद-वृद्धि हुई है उन्हें—अधिक विज्ञ समझना चाहिए। इस भौंरे के दो नहीं, चार नहीं, पूरे छः पद हैं। अवश्य ही यह बड़ा भारी पण्डित और चतुर है, नहीं तो इसकी ऐसी असामान्य पद-वृद्धि कैसे होती? फिर ऐसे पण्डित जीव की सम्मति का अनादर कैसे करूँ। अतएव कम से कम आज मैं अपनी भनभनाहट बन्द करता हूँ। परन्तु मधु-संग्रह की आशा लगी हुई है। वङ्गदर्शनरूपी पुष्प से भङ्गरूपी मधु प्राप्त होगा इसी आशा से प्राण धारण किये हुए हूँ मैं—

आपका आज्ञाकारी
श्रीचिदानन्द चतुर्वेदी

१६—राणा जङ्गबहादुर इँगलैंड में

[श्री जगन्मोहन वर्मा]

सौथैंपटन में जहाज़ से उतरकर जङ्गबहादुर ने पी० ओ० कम्पनी के मकान में डेरा किया। उनका सारा असबाब जहाज़ से उतारा गया। असबाब के उतरते ही चुङ्गी के कर्मचारीगण आ उपस्थित हुए और असबाब की गठरियों को खोलकर देखने के लिए आग्रह करने लगे। जङ्गबहादुर को उनका यह बर्ताव असह्य मालूम हुआ। उन्होंने उसी दम छः जवान नङ्गी तलवार लेकर असबाब की रक्षा के लिए तैनात कर दिये और स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि मैं हिन्दू होते हुए अपने असबाब को कभी विधर्मियों को छूने न दूँगा; यदि कोई अँगरेज़ मेरे असबाब की गठरियों में अँगुली भी लगावेगा तो मैं इसी दम दूसरा धूमपोत करके फ़ान्स को चल दूँगा। अब तो चुङ्गी के कर्मचारियों को बड़ी कठिनाई उपस्थित हुई। उन लोगों ने अपने प्रधान अफ़सरों को तार पर तार देना प्रारम्भ किया और कई घण्टे परस्पर तार उड़ने के बाद अन्त में यह निर्धारित हुआ कि जङ्गबहादुर के साथ के असबाब की राहदारी बिना देखे ही दे दी जाय।

लन्दन नगर में राज्य की ओर से जङ्गबहादुर के स्वागत का उचित प्रबन्ध किया गया था। उनके ठहरने के लिए टेम्स नदी के किनारे रिचमाण्ड टेरेस नामक प्रासाद में प्रबन्ध किया

गया था। यह रिचमाण्ड प्रासाद लन्दन नगर के मध्य भाग में बना हुआ है। उत्तर ओर सुन्दर बाग़ है जहाँ से नदी का सुहावना दृश्य दिखाई पड़ता है, दक्षिण ओर चौड़ा राजमार्ग है और पश्चिम में एक बड़ा मैदान है जिसमें लहलहाती हुई हरियाली आँखों को ठण्डक पहुँचाती है। प्रासाद उत्तम रीति से सजाया गया था। दीवालों पर मनोहर चित्रकारी की गई थी और सारे महल में गैस की रोशनी का उचित प्रबन्ध था। सारे कमरों में बहुमूल्य मेज़, कुरसियाँ, आलमारी, कोच आदि उचित स्थानों पर क़ायदे से लगाये गये थे। फ़र्श पर ब्रसल्स का नर्म गलीचा बिछाया गया था और भाँति-भाँति के शमादान और ज्योतिशाखाओं से कमरों को सुसज्जित किया गया था।

उस दिन तो जङ्गबहादुर ने सौथैंपटन में पी० ओ० कम्पनी के मकान ही में आराम किया, दूसरे दिन अपने साथ के दस, पाँच सर्दारों को लन्दन नगर में यह देखने के लिए भेजा कि उनके ठहरने के लिए कहाँ और कैसे स्थान पर प्रबन्ध किया गया है। वे लोग उनके आज्ञानुसार लन्दन गये। वहाँ सब कुछ देख-भालकर सौथैंपटन में वापस आये और उन्होंने सब समाचार जङ्गबहादुर से निवेदन किया। अब जङ्गबहादुर अपने साथियों समेत सौथैंपटन नगर से प्रस्थानित हुए और वहाँ रिचमाण्ड टेरेस में उन्होंने जा डेरा किया। महारानी उस समय प्रसूतागार में थीं, क्योंकि उस समय प्रिंस आर्थर (ड्यूक आफ़ कनाट) का जन्म हुआ था और

इसी लिए वे उस समय जङ्गबहादुर से नहीं मिल सकती थीं। अतः जङ्गबहादुर को उनके दर्शन के लिए तीन सप्ताह तक ठहरना पड़ा।

२७ मई को तीसरे पहर ईस्ट इंडिया कम्पनी के चेयरमैन और डिप्टी चेयरमैन जङ्गबहादुर के पास मिलने आये। उन्होंने उनसे ३० मई को एक बजे से तीन बजे के बीच इंडिया आफ़िस में पदार्पण करने के लिए प्रार्थना की और कहा कि जिस दिन आपको सुभीता हो उस दिन लन्दन टैवर्न में आपके भोज का प्रबन्ध किया जाय। जङ्गबहादुर ने उनकी प्रार्थना और निमन्त्रण को स्वीकार कर उन्हें बिदा किया। रात को उन्होंने अपने भाई जगत्‌शमशेर और धीरशमशेर राना, तथा हेमदल सिद्धमन और मैकल्यूड साहब को साथ ले सेंट जेम्स थियेटर का नाटक देखा।

दूसरे दिन सबेरे से ही चारों ओर से वहाँ के बड़े-बड़े आदमियों के निमन्त्रण और मिलने के लिए सन्देशे आने लगे। उन्होंने सबका समुचित उत्तर देकर सबको सन्तुष्ट किया। २६ मई को वे इप्सम की घुड़दौड़ में अपने दलबल सहित पधारे। वहाँ नगर के अनेक बड़े आदमियों से उनका परिचय हुआ। यहाँ बैठे हुए उनसे एक रईस ने प्रश्न किया—"आप बतलाइए, घुड़दौड़ में कौन घोड़ा बाज़ी मारेगा?" इस पर जङ्गबहादुर ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से वाल्टिजेंट (Valtigent) नामक घोड़े को ताककर संकेत किया।

दैववश वही घोड़ा घुड़दौड़ में प्रथम आया जिसे देख सब लोग उनकी बुद्धि की प्रशंसा करने लगे। यहाँ से उठते ही एक बैलूनबाज़ ने जङ्गबहादुर से किसी दिन अपनी बैलून-बाज़ी का तमाशा देखने के लिए प्रार्थना की, जिसे उन्होंने स्वीकार कर लिया।

३० मई को १ बजे दिन को वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार इंडिया आफ़िस में पधारे। वहाँ के प्रधान ने कार्य्यालयभवन के द्वार पर उनका सत्कार किया और उन्हें अपने साथ ऊपर के प्रसाद पर ले जाकर उच्च आसन पर बैठाया। यहाँ पर बोर्ड आफ़ डायरेक्टर्स के प्रधान ने उनके स्वागत का अभिनन्दन-पत्र पढ़ा और उनके 'स्वास्थ्यपान' के लिए प्रस्ताव किया। सब लोगों ने वहाँ बड़े आनन्द और उत्साह के साथ नैपाल के सुयोग्य महामात्य का स्वास्थ्यपान किया। यहाँ से उठकर सब लोग पास के कमरे में पधारे। यहाँ डाइरेक्टरों की ओर से उनके लिए फलाहार का प्रबन्ध हुआ था। जङ्गबहादुर ने कुछ फल खाये और उन लोगों के इस आतिथ्य-सत्कार के लिए कृतज्ञता प्रकट की। तदनन्तर उनसे बिदा माँग वे अपने डेरे पर आये। सायङ्काल के समय वे दलबल के साथ आपेरा (Opera) देखने के लिए पधारे और रात भर वहाँ तमाशा देखते रहे। दो दिन रात के जागरण से वे कुछ अनमने हो गये थे इसी लिए दूसरे दिन ३१ तारीख़ को वे कहीं न जा सके, अपने डेरे ही पर आराम करते रहे।

१ जून को सायङ्काल के समय जङ्गबहादुर श्रीमती लेडी पामरस्टन से मिलने गये। वहाँ संयोगवश ड्यूक आफ़ वेलिंगटन और यूनाइटेड स्टेट के एलची लारेंस साहब भी उपस्थित थे। श्रीमती पामरस्टन ने जङ्गबहादुर का परिचय उक्त महोदयों से कराया। श्रीमान् ड्यूक आफ़ वेलिंगटन ने परिचय पाने के समय हर्ष प्रकट करते हुए कहा कि यद्यपि भारतवर्ष में बहुत से लोगों से मेरा परिचय है, पर आज तक मुझे ऐसे प्रबन्धकुशल राजनीतिज्ञ धीर वीर मन्त्री से मिलने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ था। ऐसा सुयोग्य मन्त्री पाकर नैपाल का भाग्य खुल गया। मुझे आशा है कि अब वह अच्छी उन्नति करेगा।

दूसरे दिन वे लार्ड गफ़ से मिलने गये। यहाँ लार्ड गफ़ से जङ्गबहादुर बहुत देर तक युद्ध-कौशल पर बातचीत करते रहे। बीच में लार्ड गफ़ ने उनसे उनके नाम का अर्थ पूछा जिस पर जङ्गबहादुर ने कहा कि जङ्गबहादुर शब्द का अर्थ है "युद्ध में बहादुर"। लार्ड गफ़ ने उनके नाम का अर्थ सुनकर बहुत प्रसन्न होकर कहा कि आपका नाम आपके लिए सार्थक है। इस पर जङ्गबहादुर ने यह उत्तर दिया, मेरा नाम तो मेरी वीरता का द्योतक है पर आपका नाम पञ्जाब-विजय के कारण वीरता के लिए रूढ़ि हो गया है। जङ्गबहादुर की इस हाज़िरजवाबी को सुन लार्ड गफ़ स्तब्ध हो गये और उनकी इस देवप्रदत्त वाक्-शक्ति की प्रशंसा करने लगे।

३ जून को जङ्गबहादुर स्वयं पिकाडली में घोड़ा ख़रीदने गये। यहाँ उन्हें एक सौदागर का घोड़ा पसन्द आया। जङ्गबहादुर ने घोड़े का मोल पूछा तो सौदागर ने ३०० गिनी बतलाया। जङ्गबहादुर ने मोल सुनकर मालिक से पूछा, क्या घोड़ा उड़ान भी करता है? मालिक ने कहा, यह घोड़ा रमना में रहा है और इसे उड़ने की शिक्षा नहीं दी गई है। जङ्गबहादुर ने आग्रह करके कहा कि मैं इसे तलवार के ऊपर फँदाऊँगा। धीरशमशेर ने आज्ञा पाते ही तलवार निकाली और वह उसे उठाकर खड़ा हो गया। सौदागर बेचारा जङ्गबहादुर का यह हठ देख घबड़ाया। जङ्गबहादुर ने उसकी यह अवस्था देखकर कहा कि आप घबड़ायँ मत, यदि घोड़े के पैर में ज़रा भी घाव लगेगा तो मैं तुम्हें मुँह-माँगी ३०० गिनी दे दूँगा। बस, वे घोड़े की पीठ पर बैठ गये और पलमात्र में घोड़े को तड़काकर दूसरी ओर पहुँचे। यह देख सब लोग विस्मित हो गये और मालिक ने अपने घोड़े का जौहर देख उसका मूल्य ३०० गिनी से ४०० गिनी कर दिया। जङ्गबहादुर ने अपने सेक्रेटरी मैल्यूड साहब से कहा कि आप इसे समझा दीजिए कि मैं उसे इसका मूल्य यहाँ से पचास क़दम जाने तक २०० गिनी दूँगा और पचास क़दम के बाद गाड़ी में पहुँचने तक १५० गिनी दूँगा और यदि गाड़ी में बैठ गया तो फिर १०० गिनी से अधिक न दूँगा। यह कह वे वहाँ से चलते हुए। घोड़े का मालिक उनके साथ-

साथ मूल्य पर झगड़ता हुआ चला। कोई बात तय न हो पाई थी कि जङ्गबहादुर गाड़ी में बैठ गये। अब तो मालिक चकराया कि बना सौदा उसकी अड़ से बिगड़ गया और गाड़ी चलते-चलते वह १०० गिनी ही लेने पर राज़ी हो गया। जङ्गबहादुर ने उसे १०० गिनी देकर घोड़ा ले लिया और अन्त को जब सौदागर चलने लगा तब उसकी मानसिक अवस्था पर दया कर २५ गिनी और देने की आज्ञा दी।

उसी दिन सायङ्काल के समय जङ्गबहादुर अंजेलिओ के प्रसिद्ध अखाड़े में कुश्ती देखने गये। यहाँ उन्होंने कई पहलवानों की कुश्तियाँ देखीं। पर जब पहलवानों को यह पता चला कि जङ्गबहादुर के साथ भी कई कुश्तीबाज़ नैपाली मल्ल आये हैं तब उन लोगों में से एक प्रसिद्ध मल्ल ने उन्हें कुश्ती के लिए प्रचारा। जङ्गबहादुर ने उसके प्रचार को स्वीकार किया और अपने छोटे भाई धीरशमशेर को अखाड़े में उतरने की आज्ञा दी। उनकी आज्ञा पाते ही धीरशमशेर अखाड़े में उतरा। बात की बात में उसने उस मदोन्मत्त मल्ल को भूमि पर चित्त पटक दिया। चारों ओर से अखाड़ा करतल-ध्वनि से गूँज उठा। प्रतिद्वन्द्वी का शरीर पटकनी खाने से धुस गया। अतः जङ्गबहादुर ने उसकी इस अवस्था को देख और उस पर तरस खा एक मुट्ठी अशर्फ़ियाँ उसे इनाम में दीं।

५ जून को जङ्गबहादुर ने मार्क्विस लंडनडरी के निमन्त्रण के अनुसार प्रातःकाल द्वितीय प्राणरक्षक सेना (Life-guard)

की क़वायद देखी और इसी दिन दोपहर के समय लार्ड हार्डिज साहब, भारत के भूतपूर्व गवर्नर-जनरल, उनसे मिलने के लिए आये। लार्ड हार्डिज महोदय और जङ्गबहादुर में बड़ी देर तक युद्ध-विद्या पर बातचीत होती रही और उक्त लार्ड उनसे इस विषय पर कि नैपाल में तोपें और बन्दूकें कैसे ढाली जाती हैं, पूछ-ताछ करते रहे। सायङ्काल के समय जङ्गबहादुर होर्डरनेस हाउस में दलबल सहित एक भोज में, जो वहाँ के सेना-विभाग की ओर से दिया गया था, गये। यहाँ पर उन्होंने ड्यूक आफ़ नारफ़ाक, सर राबर्ट पील और विलायत के अन्य प्रधान पुरुषों से परिचय प्राप्त किया। भोज की समाप्ति और उनका स्वास्थ्यपान हो चुकने पर वे अपने स्थान से उठे। उपस्थित सज्जनों को धन्यवाद देते हुए उन्होंने कहा कि आप लोग मुझे इस भोज में हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहने के लिए क्षमा कीजिए। भगवान् ने मुझे ऐसी जाति, धर्म और देश में उत्पन्न किया है जिसकी प्रथा के अनुसार मैं विदेशियों के साथ क्या अपने देश ही के कितने लोगों के साथ सहभोज करने से वञ्चित हूँ। मैं आप लोगों को आतिथ्य-सत्कार के लिए अन्तःकरण से धन्यवाद देता हूँ और सदा के लिए आपका कृतज्ञ हूँ।

दूसरे दिन सायङ्काल के समय वे थैचड टैवर्न में पधारे। यहाँ स्काटिश कार्पोरेशन की ओर से जङ्गबहादुर के वहाँ पधारने के उपलक्ष में एक भोज दिया गया था और नाच का

प्रबन्ध हुआ था। यहाँ पर स्वास्थ्यपान के अनन्तर जङ्गबहादुर ने भोज में सम्मिलित न हो सकने पर अपनी अयोग्यता प्रकाश करते हुए और स्काटलैंड के पहाड़ियों के साथ स्वयं भी पहाड़ी होने का सम्बन्ध जोड़ते हुए अत्यन्त सहानुभूति प्रकट की।

७ तारीख़ को पूर्वाह्न में वे मिडलसेक्स का अस्पताल देखने के लिए गये। वहाँ प्रत्येक कमरे में घूमकर पाश्चात्य चिकित्सा-प्रणाली, औषधि-प्रयोग, शस्त्र-प्रयोग तथा रोगियों की शुश्रूषा आदि की प्रणालियों को उन्होंने बड़े ध्यानपूर्वक देखा। अपराह्न में वे पशु-शालाओं में, जहाँ गायों की बिक्री होती है, गये और एक स्थल में उन्होंने सफ़क की ६, होर्डरनेस की २ और यार्कशायर की ४ गायें तथा आल्डरनी के २ बैल ख़रीदे।

८ जून को जङ्गबहादुर बैंक आफ़ इँगलैंड में पधारे। वहाँ बैंक के गवर्नर सर जान लेथम ने उनकी बड़ी स्वागतपूर्वक अभ्यर्थना की और अपने साथ बैंक की कोठी के प्रत्येक विभाग को दिखलाया। अन्त में वे उन्हें उस कार्यालय में ले गये जहाँ नोट बनाये जाते थे। वहाँ उन्होंने नोट बनाने की सारी परिक्रिया-प्रणाली का विवरण समझाया। यहाँ से जङ्गबहादुर लार्ड रास के निवासस्थान पर गये।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही जङ्गबहादुर के डेरे पर ड्यूक आफ़ वेलिङ्गटन उनसे मिलने को आये और अपराह्न में

जङ्गबहादुर उनसे मिलने के लिए उनके स्थान पर गये। यह सारा दिन ड्यूक आफ़ वेलिंगटन के आगमन और प्रत्यागमन में लगा। दूसरा दिन जङ्गबहादुर ने लन्दन नगर की बड़ी-बड़ी मान्य महिलाओं से मिलने में बिताया। ११ जून को वे कुछ बीमार हो गये। अतः उनकी चिकित्सा के लिए उस समय के प्रधान डाक्टर सर बेंजिमन ब्रोडी साहब बुलाये गये जिनके अप्रतिम निदान और औषधि तथा शुश्रूषा से तीन-चार ही दिन में वे फिर ज्यों के त्यों नीरोग और स्वस्थ हो गये। जङ्गबहादुर ने स्वास्थ्य लाभ करने पर सर बेञ्जिमन ब्रोडी महोदय को उनके अन्तिम निरीक्षण के समय ५०० पौंड का ख़रीता उनकी फ़ीस में प्रदान करना चाहा पर उक्त डाक्टर महोदय ने यह कहकर उसे वापस कर दिया कि उक्त धन उनकी फ़ीस से कई गुना अधिक है। बड़ा आग्रह करने पर उन्होंने १०० पौंड स्वीकार किये।

१५ तारीख़ को जङ्गबहादुर को ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों के अनुरोध से लन्दन टेवर्न में पधारना पड़ा। यहाँ डायरेक्टरों ने जङ्गबहादुर के शुभागमन के उपलक्ष में एक भोज देने का प्रबन्ध किया था और उसमें वहाँ के बड़े-बड़े लार्डों और महिलाओं को आमन्त्रित किया था। नैपालियों के लिए वहाँ पृथक् दीवानख़ाने में फलों का प्रबन्ध हुआ था। यहाँ भोजनानन्तर सब लोगों ने नैपालराज्य की उन्नति मनाते हुए स्वास्थ्यपान किया और अन्त में जङ्गबहादुर ने उन सब लोगों

को थोड़े से शब्दों में धन्यवाद दिया जिस पर सब लोगों ने तालियाँ पीटकर ख़ूब आनन्द प्रकाशित किया।

दूसरे दिन जङ्गबहादुर लन्दन नगर के प्रधान अजायबघर और चिड़ियाख़ाने को देखने गये। उन्होंने सारा दिन देश-देश के पशु-पक्षियों के देखने में बिताया।

१८ जून को वे लन्दन नगर के सुप्रख्यात पुल को, जो टेम्स नदी पर बना है, देखने गये। इस प्रकार उन्होंने महारानी के प्रसूतिका-गृह-वासकाल को लन्दन नगर के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पुरुषों से मिलने और प्रसिद्ध स्थानों के देखने में बिताया। अल्प काल में वे वहाँ के सभ्य-समाज में इतने प्रख्यात हो गये कि चारों ओर लोग उनकी मिलनसारी, हाज़िर-जवाबी और सभा-चातुरी की प्रशंसा करने लगे।

महारानी ने प्रसूतिका-गृह से निकलने पर जङ्गबहादुर को, १९ जून को ३ बजे के समय, सेन्ट जेम्स नामक प्रासाद में भेंट करने के लिए बुलाया। जङ्गबहादुर नियत समय पर अपने भाइयों—जगत्‌शमशेर और धीरशमशेर तथा अन्य मुसाहिबों—समेत सेन्ट जेम्स में गये। यहाँ महारानी ने उन्हें अपने मिलने के कमरे में बुलाया। कमरे में उस समय महारानी के पति राजकुमार अल्बर्ट तथा मन्त्रि-मण्डल के दो-चार चुने हुए सभ्य उपस्थित थे। वहाँ महारानी ने जङ्गबहादुर का समुचित स्वागत किया। जङ्गबहादुर ने महारानी को देखते ही झुककर फ़रशी सलाम किया और अपना ख़रीता, जो वे

नैपाल से महारानी के नाम लाये थे, महारानी के करकमलों में सादर समर्पण किया। महारानी ने धन्यवाद-पूर्वक ख़रीता स्वीकार किया और कहा "मुझे शोक है कि आपको इतने दिनों यहाँ ठहरकर प्रतीक्षा करनी पड़ी, पर किया क्या जाता, मैं स्वयं मजबूर थी और आपसे इसके पूर्व नहीं मिल सकी। मुझे आशा है कि इँगलैंड में ठहरने में आपको किसी प्रकार का कष्ट न हुआ होगा।" जङ्गबहादुर ने प्रत्युत्तर में महारानी को धन्यवाद दिया और कहा, "आपके प्रबन्ध-कुशल कर्मचारियों के कारण मुझे सब प्रकार का सुख मिला; किसी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ।" इसके अनन्तर महारानी ने जङ्गबहादुर से मिलने पर अपनी प्रसन्नता और सन्तोष प्रकट किया और उनकी वीरता की बहुत प्रशंसा की, जिसके लिए जङ्गबहादुर ने उनको धन्यवाद दिया। इसके बाद सर जान हाबहाउस महोदय ने जङ्गबहादुर के दोनों भाइयों—जगत्‌शमशेर और धीरशमशेर—का परिचय महारानी को दिया। जङ्ग-बहादुर ने उन सब तुहफ़ों को, जो वे नैपाल राज्य की ओर से महारानी के लिए लाये थे, एक-एक करके महारानी के सामने उपस्थित किया और महारानी ने एक-एक को देखकर उन पर अपना सन्तोष और कृतज्ञता प्रकट की और उनके लिए नैपाल के महाराज और उनके प्रतिनिधि जङ्गबहादुर को धन्यवाद दिया। महारानी ने चलते समय जनरल बावेल को आज्ञा दी कि वे जङ्गबहादुर को सेन्ट जेम्स का महल अच्छी तरह दिखला

दें। यह सारा दिन जङ्गबहादुर का महारानी से मिलने और उन्हें भेंट देने में ही बीत गया। वे सेंट जेम्स से निकलकर केवल ड्यूक आफ़ नारफ़ाक के स्थान पर जा सके और वहाँ से बड़ी रात गये लौटे।

दूसरे दिन महारानी ने उन्हें फिर मिलने के लिए बुलाया और वे अपने दलबल सहित बड़ी सजधज से महारानी से मिलने गये। महारानी इस बार उनसे उस दरबार आम में मिलीं जहाँ वे सिंहासन पर बैठा करती थीं। उसे सिंहासनागार कहते हैं। यहाँ महारानी ने जङ्गबहादुर को बड़े तपाक से प्रिंस आर्थर (ड्यूक आफ़ कनाट) के बप्तिस्मा में, जो २२ तारीख़ को होनेवाला था, निमंत्रित किया। २१ तारीख़ को जङ्गबहादुर ने अपना समय टेम्स नदी में कई खेल-कूद देखने में बिताया और २२ को वे सजधज के साथ दरबार में राजकुमार के बप्तिस्मा में सम्मिलित होने के लिए पधारे। महारानी ने उनका बड़े सम्मान से स्वागत किया और उन्हें अपने पास ही बैठने को स्थान दिया। यहाँ महारानी ने उनका परिचय जर्मनी के महाराज विलियम से, जो उस समय राजकुमार थे, कराया। महारानी उनसे बहुत देर तक नैपाल के जल-वायु और अन्य प्राकृतिक दृश्यों के विषय में बराबर, जब तक वे बैठे रहे, पूछ-पाछ करती रहीं। राजकुमार का बप्तिस्मा हो जाने पर उसके स्वास्थ्यपान का प्रबन्ध हुआ और नियमानुसार मद्यपूर्ण एक पान-पात्र जङ्गबहादुर के हाथ में दिया गया।

इस पान पात्र को जङ्गबहादुर ने लेकर कप्तान कवेना के आगे यह कहकर बढ़ा दिया कि हिन्दुस्तान के नियमानुसार मैं महाराजाओं के सामने पान नहीं कर सकता। स्वास्थ्यपान के अनन्तर सङ्गीत प्रारम्भ हुआ। वाद्य और गीत का माधुर्य जङ्गबहादुर को बहुत मनोहर मालूम हुआ। उन्होंने उस पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इस पर महारानी ने हँसते-हँसते पूछा कि आप जब अँगरेज़ी नहीं समझते तो आपको अँगरेज़ी गीतों में आनन्द कैसे आता है? इस पर जङ्गबहादुर ने हँसकर उत्तर दिया कि चिड़ियों की सुरीली बोलियाँ सुनकर भी तो मनुष्य उनका भाव न समझते हुए आनन्दित होता है। स्वर का माधुर्य्य कर्णेन्द्रिय का विषय है और भाव अन्तःकरण का विषय है। अतः मैं कर्णेन्द्रिय के स्वर से आनन्दित होता हूँ।

इस प्रकार प्लीमथ, एडिनबरा, ग्लासगो, लैंकाशायर, लिवरपूल और मैनचेस्टर होते हुए वे लन्दन लौट आये। लन्दन पहुँचने पर वे दो दिन ठहरकर महारानी के पास बिदा माँगने के लिए पधारे। महारानी ने राजमहल के प्रधान मण्डप में लार्डों और लेडियों के साथ उनका स्वागत किया और बिदा करते समय श्रीमती ने अपने मुँह से कहा कि "श्रीमान् के इँगलैंड आने से दोनों राज्यों के बीच घनिष्ठ मैत्री स्थापित हुई। मुझे आशा है कि आप मुझे नैपाल और इँगलैंड के राज्यों के बीच परस्पर सहानुभूति और एकता का सम्बन्ध सत्य और चिरस्थायी करने में सहायता देंगे।" जङ्गबहादुर ने इसके

उत्तर में कहा कि "श्रीमती विश्वास रक्खें कि समय पर, आवश्यकता पड़ने पर, मेरे देश की सेना और कोष सदा आपकी सेवा में प्रस्तुत रहेगा। मुझे दृढ़ विश्वास है कि इँगलैंड मेरे देश के प्रति सदा समान सहानुभूति और मैत्रीभाव रक्खेगा और उसमें किसी प्रकार की न्यूनता न होने देगा।" महारानी ने उनके वियोग पर दुःख प्रकाश किया। जङ्गबहादुर ने उनको धन्यवाद दिया और कहा—"आपके देश में लोगों ने मेरा जो आदर और सत्कार किया है उसके लिए मैं आपका सदा के लिए कृतज्ञ हूँ।" यह कहकर जङ्गबहादुर महारानी से बिदा हुए।

१७—साहित्य की महत्ता

[पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी]

ज्ञानराशि के सञ्चित कोश का नाम ही साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह रूपवती भिखारिणी की तरह कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्री-सम्पन्नता, उसकी मान-मर्य्यादा उसके साहित्य ही पर अवलम्बित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक सङ्गठन का,

उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का, प्रतिबिम्ब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रन्थ-साहित्य ही में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता और असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप यह निस्सन्देह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी ठीक वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी शक्ति इस समय कितनी या कैसी है और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बन्द कर दीजिए या कम कर दीजिए, आपका शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वञ्चित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अङ्ग का जो काम है वह यदि उससे न लिया जाय तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य है

साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालान्तर में निर्जीव-सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिए उसका उत्पादन भी करना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकार-ग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्ति-सम्पन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलम्बित है। अतएव यह बात निर्भ्रान्त है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक बड़े उत्साह से सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए।

आँख उठाकर ज़रा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे-कैसे परिवर्त्तन कर डाले हैं। साहित्य ही ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबन्ध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम्ब के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने

किया है; जातीय स्वातन्त्र्य के बीज उसी ने बोये हैं; व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है; पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ़ान्स में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रान्त इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी ज़िन्दा करनेवाली सञ्जीवनी औषधि का आकार है, जो साहित्य पतितों को उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है, उसके उत्पादन और सम्बर्द्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानान्धकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किम्बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महन्ता भी है। कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है जैसा कि जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ़्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अँगरेज़ी भाषा भी फ़्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती

है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है; तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बन्द नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मन्द ज़रूर पड़ जाती है। पर यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इँगलैंड चिरकाल तक फ्रेंच और लैटिन के मायाजाल में फँसे थे। पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं। कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रन्थ-रचना करने का विचार तक नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही स्वजाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निस्स-हाय, निरुपाय और निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरों की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है, उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए; इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य और आपस्तम्ब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही नहीं चाहिएँ। नहीं; आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर

और अवकाश होने पर एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परन्तु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोकभाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना सभी दृष्टियों से हमारा परम धर्म है।

१८—हिमालय का जङ्गल

[पं० श्यामविहारी मिश्र एम०ए० तथा पं०शुकदेवविहारी मिश्र बी०ए०]

(अर्जुन तपस्वी के वेष में खड़े जप कर रहे हैं)

अर्जुन—(आप ही आप) अब जप बहुत हो गया, सो पार्थिव-लिङ्ग बनाकर पूजन करना चाहिए। (शिव-लिङ्ग बनाकर पूजता है)

सीस पै गङ्ग-तरङ्ग, जटान पै नागन को बर मौर रह्यो फबि;
भाल मयङ्क, गरे सिर-माल, प्रभा तन की लखि कोटि लजैं रबि।
कण्ठ हलाहल, अङ्ग विभूति, भनै सिरमौर कहा बरनौं छबि;
केहरि-छाल लखे कटि पै करि-से भ्रम-जाल रहैं सिगरे दबि ॥

(एक वाराह अर्जुन पर आक्रमण करता है और इन्हें धनुष-बाण उठाते देखकर भागता है। कुछ स्त्रियों के साथ एक किरात आकर उसी वाराह पर धनुष-बाण चढ़ाता है।)

अर्जुन—किरात, यह मेरा लक्ष्य हो चुका है; इस पर बाण न चलाना—

(यह बात न मानकर किरात बाण चलाता है। अर्जुन भी साथ ही बाण मारता है। इन दोनों बाणों से विद्ध वाराह शरीर छोड़ता है।)

हे किरात, तुम कौन हो जो स्वर्ण-सी प्रभा शरीर पर धारण किये स्त्रियों के साथ इस वन में फिरते हो ? क्या तुमको यहाँ डर नहीं लगता ?

किरात—यह गहन वनाच्छादित रम्य पार्वतीय भू-भाग तो मेरा नित्य का विहार-स्थल है। हे सुकुमार, तुम यहाँ कैसे और कब आये ? तुम तो सदा सुख के योग्य जान पड़ते हो !

अर्जुन—मैं थोड़े ही दिनों से तपार्थ यहाँ आया हूँ, किन्तु तुमसे इतना पूछना है कि मृगयाधर्म का निपात करके तुमने मेरे इस लक्ष्य पर शर-पात क्यों किया ? अब तुम मुझसे जीते नहीं बच सकते। युद्धार्थ तैयार हो जाओ।

किरात—(हँसकर) मेरा तो यह कोल पहले ही का लक्ष्य था और मैंने इसे आहत भी कर दिया था। इसी लिए बाण से मैंने मार भी डाला। इसके शव

में तुम्हारा बाण तो पीछे लगा है। इस अपराध से तुम स्वयं वधयोग्य हो, किन्तु नवागन्तुक और तपी बालक समझकर मैं तुम्हें क्षमा किये देता हूँ। तुम कुछ भय न करो।

अर्जुन—हे अहङ्कार-मूर्ति किरात, तू केवल अपना दोष ही नहीं गिनता, वरन उलटा मुझे अकारण दोषी ठहराता है। इसलिए तीक्ष्ण बाणों से मैं तुझे अभी भूमिशायी करता हूँ। बचने का यत्न कर।

किरात—हे अग्निवर्ण कुमार, तेरा क्रोध भी मुझे परम प्रिय है, सो तू थोड़ा-सा क्रोध और दिखला।

अर्जुन—निस्तब्ध हो प्रगल्भी किरात और ले, अब तू मेरे वज्र-सदृश बाणों के प्रहार को सह।

(अर्जुन बाण-वृष्टि करता है, किन्तु सारे बाण किरात की अक्षत देह में समा जाते हैं)

किरात—(हँसता हुआ) अरे वीर, ज़रा मर्म-भेदी बाणों को छोड़। क्या तू इन्हीं साधारण शिलीमुखों से हिमाचल पर शत्रुशमन करना चाहता है? इसी से तो मैं कहता हूँ कि कोल तेरे बाण से न मरकर मेरे बाण से मरा है।

अर्जुन—(परम क्रुद्ध होकर) अरे घमण्डी, थोड़ी देर और अपना मिथ्याभिमान दिखला ले। (फिर शर-वृष्टि करता है, किन्तु उन्हें भी किरात निष्फल कर देता है)

(आप ही आप) अरे, मेरे अक्षय तूणीर तो ख़ाली हो गये। अब धनुष में क्या जोड़ूँ ? यह कोई महापुरुष है, जो बाण पान करता चला जाता है। (प्रकट) साधु साधु ! किरातवर, तू अवश्य कोई भारी योद्धा है, किन्तु देख मैं तुझे फिर भी मारता हूँ। (धनुष किरात के गले में डालकर खींचता है; किरात धनुष छीन लेता है) अब देख, तुझे मुष्टि-प्रहार से यमपुर पहुँचाता हूँ।

(अर्जुन मुष्टि-प्रहार करता है। किरात हृदय के धक्के से अर्जुन को पृथ्वी पर गिरा देता है।)

अर्जुन—(उठकर आप ही आप) यह अवश्य कोई देवता है। अतएव अब मुझे भगवान् आशुतोष की शरण लेनी चाहिए।

(पार्थिव पर माला चढ़ाता है, परन्तु वह माला किरात के गले में जा विराजती है। अर्जुन आश्चर्यान्वित हो जाता है।)

(प्रकट हाथ जोड़कर) हे भगवान् आशुतोष, मेरा अपराध क्षमा हो। मैंने अब आपको पहचाना।

(पैरों पर गिरता है)

किरात—(अर्जुन को हृदय से लगाकर) तूने कोई अपराध नहीं किया वत्स ! शूरवीरों की वीरता देखने का मुझे सदैव चाव रहता है। इसी लिए मैंने यह खेल किया था। तू एक अनुपम वीर है; मैं तुझसे बहुत प्रसन्न हूँ।

अर्जुन—हे शूल-पाणि, यदि आप मुझसे सचमुच प्रसन्न हैं तो मैं आपका देवीसहित शैव रूप देखूँ।

किरात—एवमस्तु! (गिरिजा-सहित शिवजी अपना सच्चा रूप दिखलाते हैं)

अर्जुन—(फिर पैरों पर गिरता और उठकर स्तुति करता है)

जूट जटान को तो सिर पै, इनके बर माँग महा छबि छावै;
भाल पै इन्दु लसै तुम्हरे, इनके इत बिन्दु प्रभा बगरावै।
ओढ़े बघम्बर हो तुम त्यों, इनकी दुति अम्बर सों दरसावै;
ह्वै कै निहाल सदा यह दम्पति, दास पै खास दया बरसावै॥

आशुतोष, कृपाल, भोलानाथ, जै जगदीश,
नमो शङ्कर, शूलपाणि, पिनाकधर, मम ईश।
जटा-जूटन माहिं करति कलोल गङ्गा माय;
भाल-देस बिसाल पै तव बाल-बिधु दरसाय।
अग्नि-पुञ्ज-समान तीजो नैन तेजस-आल,
मुँदे हूँ पै कढ़े जासों चारु ज्योति बिसाल।
कण्ठ में तव काल-सम फुंकरत व्याल कराल,
त्यों बिराजै शूरगन के मुण्ड की बर माल।
एक कर में सूल, त्यों कर दूसरे में नाग,
तीसरे में अच्छ-माला लसै अति बड़ भाग।
सोभिजै तव हाथ चौथे में कमंडल चारु;
इन्दु-से तन में बिराजति है विभूति-सिंगारु।
कियो तुम ही बिस्व-रचना करत पालन तासु,

करोगे पुनि समै लहि संसार को तुम नासु।

सत्य शिव सुन्दर जगत्-कल्यान-कर श्रुति-माथ,

लसौ तुम ही एक अज भगवान भोलानाथ।

त्रिगुन पूरित बहुरि त्रिगुनातीत हौ तुम एक,

समै लहि तुम धरत हौ प्रभु रूप एक अनेक।

दया-सागर होहु अब यहि दास पै अनुकूल,

करहु दूरि प्रसाद सों निज मानसिक सब सूल।

शिव—पुत्रवर, देवी-सहित मैं तुझसे अत्यन्त प्रसन्न हूँ। तेरे अक्षय तूणीर और गाण्डीव धनुष जो मैंने ले लिये थे, सो फिर तुझे देता हूँ। ये अस्त्र तेरे ही योग्य हैं, इन्हें तू धारण कर। (शस्त्र देते हैं) तू युद्धों में अपने शत्रुओं पर विजयी होगा। अब तुझे जो वर माँगना हो, माँग ले।

अर्जुन—हे गिरिजा-रमण, यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो मुझे पाशुपत नामक दिव्यास्त्र प्रदान कीजिए।

शिव—ले, मैं अपना प्रिय पाशुपत-अस्त्र प्रयोग और संहार सहित, तुझे देता हूँ। इसका दूसरा नाम ब्रह्म-शिर है। इसे किसी पर सहसा न छोड़ देना, क्योंकि अल्प आधार पाने से यह विश्व का नाश कर देगा।

(अस्त्र देते हैं। आकाश में भारी प्रकाश होता है। भगवान् शिव पार्वती-सहित आकाश की ओर चले जाते हैं। वरुण, कुबेर, यम और इन्द्र का प्रवेश)

यम—(दक्षिण दिशा में खड़े होकर) हे अर्जुन, ये सब दिक्पाल तुम्हारे पास आये हैं। मैं तुमको दिव्य दृष्टि देता हूँ; तुम इन सबके दर्शन करो।

अर्जुन—(दिव्य दृष्टि से सबको देखकर) हे पूज्य दिक्पाल, मैं, कुन्ती और पाण्डु का पुत्र, अर्जुन आपको प्रणाम करता हूँ।

यम—आयुष्मान् भव ! मैं तुमको यह दण्ड देता हूँ। इससे तुम शत्रुओं का संहार कर सकोगे। (अस्त्र देते हैं, अर्जुन नम्रतापूर्वक ग्रहण करता है)

वरुण—(पश्चिम दिशा में खड़े होकर) हे वीर पार्थ, मैं तुमको अपना यह वारुणास्त्र देता हूँ। (अस्त्र देते हैं)

कुबेर—(उत्तर दिशा में खड़े होकर) हे धनञ्जय, मैं तुमको अपना यह प्रस्वापन-अस्त्र देता हूँ। तुम इसे ग्रहण करो। (अस्त्र देते हैं)

इन्द्र—(पूर्व दिशा से) हे पुत्र अर्जुन, मैं मातलि से सज्जित कराकर अभी रथ भेजता हूँ। उस पर चढ़कर तुम मेरे यहाँ चले आओ। मैं तुम्हें वहीं सब अस्त्र दूँगा।

अर्जुन—(दिक्पालों का पूजन करके) आप लोगों ने आज मेरे ऊपर बड़ी कृपा की है, जिसके लिए मैं एक मुख से आपके यश-कीर्त्तन में असमर्थ हूँ।

१८—सदाचार और व्यवहार

[पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी]

बालपन से शारीरिक शिक्षा उत्तम प्रकार की मिली जिससे शरीर सुदृढ़ और जोशीला बन गया, शरीर की सुदृढ़ता के कारण मन उत्साह-पूर्ण, प्रबल और कार्यक्षम बन गया, शिक्षा के द्वारा बुद्धि की मन्दता दूर हो गई और वह तीव्र तथा प्रखर बन गई; विचार में सरलता, स्थिरता तथा विशुद्धता आ गई, नीति-शिक्षा के द्वारा हृदय पर उच्च और श्रेष्ठ संस्कार पड़े जिससे हृदय की वृत्तियों का विकास होने लगा। यह सब हुआ, परन्तु फिर भी इतने ही से यह नहीं कहा जा सकता कि अति उच्च और श्रेष्ठ नैतिक वायुमण्डल में यथेच्छ सञ्चार करने की योग्यता मनुष्य को प्राप्त हो गई। अगला मार्ग उसे अभी बहुत चलना है, और सामग्री उसके पास इतनी है कि बालपन में घर में उसके मन पर उच्च संस्कार डाले गये हैं, और प्रौढ़ होने पर शारीरिक और मानसिक शिक्षा उसे उत्तम अवश्य मिली है। सच पूछिए तो नीति-पन्थ की भिन्न-भिन्न मंज़िलें हैं, उनको धैर्य और दृढ़ता के साथ पार करना है और फिर अन्त की मंज़िल—मंज़िले-मक़सूद—तक पहुँचकर मानवी जीवन की श्रेष्ठ सफलता प्राप्त करनी है। यह काम वास्तव में बहुत कठिन है। फिर भी इन मंज़िलों में से प्रत्येक मंज़िल की यात्रा यदि व्यवस्थित रीति

तथा धैर्य से की जाय तो अगला मार्ग अवश्य ही सरल हो जायगा। बालपन में घर में लड़के के मन पर जब उत्तम संस्कार पड़ेगा तभी आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में शिक्षा के द्वारा हृदय की वृत्तियों का विकास होगा। बालपन के उत्तम संस्कार और प्रौढ़ावस्था की उत्तम शारीरिक और मानसिक शिक्षा की साधन-सामग्री लेकर मनुष्य अब विस्तृत संसार में प्रवेश करेगा। पक्षी अपने बच्चों को पहले चोंच से दाना चुगाता है फिर जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं और उनके पंख फूट आते हैं तब वह उनको अपने साथ उड़ने के लिए ले जाता है और जब उनको उड़ना अच्छी तरह से आने लगता है तब वे हवा में आनन्द-पूर्वक जहाँ चाहते हैं सञ्चार करने लगते हैं। बस, इसी भाँति बालपन और प्रौढ़पन की संस्कार-सामग्री साथ लेकर मनुष्य विस्तृत संसार में सञ्चार करने योग्य बनने लगता है। नैतिक उन्नतिरूप सर्वोच्च सीढ़ी पर पहुँचने के लिए बाल्यावस्था और प्रौढ़ावस्था की जब दो सीढ़ियाँ पार कर ली जाती हैं तब तीसरी सीढ़ी व्यावहारिक जीवन की आती है। बालपन में बालक के मन पर आसपास की परिस्थिति का प्रतिबिम्ब पड़ता है, प्रौढ़ावस्था में जब कि विचार-जागृति हो जाती है, शिक्षा के द्वारा उसका मन सुविचारों और श्रेष्ठ संस्कारों से सम्पन्न करना पड़ता है और आगे जब मनुष्य सांसारिक व्यवहारों में प्रवेश करता है तब अपने कर्त्तव्य को बजाकर उसको अपनी उन्नति करनी होती है। मतलब यह

है कि बाल्यावस्था में संस्कार, प्रौढ़ावस्था में शिक्षा और व्याव-हारिक अवस्था में कर्त्तव्य के द्वारा मनुष्य के हृदय की वृत्तियों का विकास होता रहता है। मानवी जीवन की इन तीन अवस्थाओं में हार्दिक वृत्तियों का विकास करनेवाले मानों ये तीन साधन हैं। यह नहीं है कि इस अवस्था में उसका कार्य प्राय: बौद्धिक और नैतिक शिक्षा प्राप्त करने का ही रहता है। इसी भाँति यह भी नहीं कहा जा सकता कि व्यावहारिक अवस्था में मनुष्य को कोई शिक्षा नहीं मिलती। मिलती है। परन्तु इस अवस्था में मुख्यतया उसका कार्य सांसारिक कर्तव्य करके अपनी उन्नति करने का होता है।

अपना कर्त्तव्य उत्तम रीति से बजाना भी हृदय के विकास के लिए एक बहुत आवश्यक बात है। कमल जिस प्रकार सूर्य की किरणों से खिलता है, अपना सांसारिक व्यवहार उत्तम रीति से चलाने से उसी प्रकार हृदय की वृत्तियाँ भी विक-सित और प्रफुल्लित होती हैं। कर्तव्य व्यावहारिक अवस्था का एक बहुत बड़ा रहस्य है। इसी अवस्था में मनुष्य को सत्कार्य करने का अच्छा अवसर मिलता है, इसी लिए यह स्पष्ट है कि मनुष्य की व्यावहारिक अवस्था उसके हृदय को उन्नत बनाने का एक मुख्य साधन है। सांसारिक व्यवहार में पड़ने पर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध उत्पन्न हो जाता है और इसलिए उनके विषय में अपना कर्तव्य उत्तम रीति से पूरा करना उसके लिए एक अत्यन्त

आवश्यक बात हो जाती है। मनुष्य को जब अपने कर्तव्य के विषय में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है और वह अपना कर्तव्य समुचित रूप से करने लगता है तब उसके हृदय की वृत्तियाँ भी उन्नत होने लगती हैं। मानवी हृदय में परमेश्वर-निर्मित सद्गुणों का बीज रहता है। यह बीज सांसारिक कर्तव्य के साधन से अंकुरित होने लगता है और यदि उचित सांसारिक कर्तव्य का जल हम उसमें बराबर डालते रहें तो धीरे-धीरे वही बीज एक बहुत ही उत्तम वृक्ष के रूप में परिणत हो जाता है। परन्तु यह कर्तव्य का जल यदि उसे नहीं मिलता तो वह बीज हृदय का हृदय ही में जल-भुनकर नष्ट हो जाता है। किसी मनुष्य को यदि आप एक अँधेरी कोठरी में बन्द कर रखिए तो उसकी आँखों का स्वाभाविक तेज नष्ट हो जायगा। सच तो यह है कि आँखों का यह स्वाभाविक तेज सूर्य-प्रकाश के सतत सम्बन्ध से ही स्थिर रहता है। इसी भाँति मानवी हृदय के सद्गुणों का तेज व्यावहारिक कर्तव्य छोड़कर सांसारिक कर्तव्य से ही बढ़ता रहता है। संसार के सब व्यावहारिक कर्तव्य छोड़कर मनुष्य यदि किसी निष्कर्मशील मनुष्य की भाँति रहने लगे तो जन्म भर अँधेरी कोठरी में रहे हुए मनुष्य की भाँति उसके हृदय के सद्गुणों का विकास कदापि नहीं होगा। जिस प्रकार शरीर को सुदृढ़ बनाने के लिए व्यायाम की अत्यन्त आवश्यकता है उसी भाँति हृदय की सद्वृत्तियों का विकास करने

के लिए व्यावहारिक कर्तव्य का भली भाँति पालन करना एक उत्तम साधन है।

संसार छोड़कर यदि कोई मनुष्य निर्जन वन में जाकर रहे तो उसका हृदय नीरस होता जायगा और उसकी सद्वृत्तियों का लोप हो जायगा। मानवी शरीर की हस्त-पद आदि सब इन्द्रियाँ जब कि नित्य अपना-अपना कर्तव्य कर रही हैं, तभी उनकी शक्ति बनी हुई है। इसी भाँति संसार के सत्कार्यों से जब हम अपने हृदय पर उत्तम संस्कार डालते हैं तभी हमारे हृदय की सद्वृत्तियाँ स्थिर रहती हैं। न सिर्फ़ स्थिर ही रहती हैं किन्तु धीरे-धीरे वे उन्मत्त भी हो जाती हैं। जो लोग कि सर्व-सङ्ग परित्याग करके वनवासी बनकर ईश्वर-भक्ति करने की इच्छा रखते हैं वे प्रायः सुजान नहीं होते। सोचने की बात है, जो लोग सदाचार-सम्बन्धी सांसारिक कर्तव्यों से दूर भागना चाहते हैं उनके हृदय में प्रेम और भक्ति का भाव कहाँ से उत्पन्न होगा? व्यावहारिक कर्तव्यों से जो मनुष्य ऊब गया है उसके मन में उद्वेग और खिन्नता को छोड़कर अन्य भाव कहाँ से आवेंगे? छोटी-सी बावली ही में जो मनुष्य अच्छी तरह नहीं तैर सकता वह विस्तृत समुद्र में कैसे तैर सकता है? अवश्य ही घबड़ाकर बीच में गोता खाकर डूब जाने के सिवा उसकी और क्या गति हो सकती है? सांसारिक कर्त्तव्यों से उद्विग्न हो जाने के कारण सार्वत्रिक प्रेम का झरना जिसके हृदय में उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि इसके विरुद्ध कर्त्तव्य-

विषयक उद्वेग और खिन्नता के कारण जिसका हृदय व्याप्त है उस मनुष्य का नीरस और शुष्क हृदय ईश्वर-भक्ति से ही द्रवित कैसे होगा? ईश्वर-भक्ति के लिए उसमें स्थान ही कहाँ से आवेगा? संसार की सेवा करके, जनता-रूप जनार्दन की भक्ति करके, जिसने अपने हृदय को आर्द्र नहीं किया उसके हृदय में ईश्वर-भक्ति का अङ्कुर कैसे उठेगा? ऐसी स्थिति में परमेश्वर-प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले मनुष्य की गति विस्तृत समुद्र में उड़कर पार पाने की इच्छा रखनेवाले कौवे की भाँति ही होगी। बीच ही में शक्ति-हीन बनकर नीचे गिरकर डूब जाने की नौबत आवेगी। व्यावहारिक कर्त्तव्यों को करते हुए वह श्रेष्ठ श्रेणी का प्रेम-स्रोत हृदय में उत्पन्न करना होता है कि जिसके द्वारा हम परमेश्वर को प्रसन्न कर सकते हैं। शायद कोई-कोई पुरुष ऐसे भी होंगे कि जो एकदम वनवासी बनकर ईश्वर को पा सकते होंगे किन्तु उनको अपवाद रूप समझना चाहिए। उनके कारण उपर्युक्त सर्वसाधारण नियम में बाधा नहीं आ सकती।

प्रसिद्ध श्रीस्वामी विवेकानन्द ने एक दृष्टान्त दिया है। एक हठयोगी सर्वसङ्ग परित्याग करके योग-साधन द्वारा परमेश्वर-प्राप्ति करने के लिए जङ्गल में जाकर रहने लगा। उसका यह नित्यकर्म था कि प्रतिदिन सुबह उठकर स्नान-सन्ध्या इत्यादि नित्यकर्म करके एक वृक्ष के नीचे चबूतरे पर बैठकर कुछ देर योगसाधन करता और फिर आसपास के गाँवों

में जाकर भिक्षा माँगकर भोजन करता। एक दिन नित्य-नियमानुसार स्नान-सन्ध्या से निबटकर योगसाधन करने के लिए वह अपने स्थान पर बैठा था कि इतने में उसके ऊपर फैली हुई वृक्ष की शाखाओं पर चिड़ियों ने बहुत शोर मचाया। इससे उसके साधन में विघ्न पड़ने लगा। इस कारण क्रोध से सन्तप्त होकर ज्योंही उसने ऊपर चिड़ियों की ओर देखा त्योंही उसके तप के प्रभाव से जल-भुनकर वे नीचे गिर पड़ीं। इसके बाद वह अपना साधन करके रोज़ की भाँति किसी गाँव के एक घर में भिक्षा माँगने गया। वह बहुत देर तक सवाल करता रहा पर सुनवाई नहीं हुई। इस पर उसे बड़ा क्रोध आया। इतने में एक स्त्री भीतर से भिक्षा लेकर आई और उस योगी को क्रुद्ध देखकर कहने लगी—"बाबा, मैं उस पेड़ पर की चिड़ियों की तरह नहीं हूँ जो आपके क्रोध से जलकर भस्म हो जाऊँगी। मैं आपके इस क्रोध की परवा नहीं करती।" उसका यह गूढ़ कथन सुनकर योगी को बड़ा अचम्भा हुआ। उसने उस स्त्री को महाज्ञानी समझा और साष्टाङ्ग नमस्कार करके पूछा—"देवी, तुमको उन जङ्गल की चिड़ियों का हाल कैसे मालूम हुआ?" स्त्री ने उत्तर दिया—बाबा, मैं आपके समान तपस्वी नहीं हूँ। मैं अपने रोज़ के व्यावहारिक कार्य हृदय-पूर्वक करती हूँ और सास-ससुर, भर्ता इत्यादि बड़ों की सेवा श्रद्धा से करती हूँ। इस समय भी मैं अपने पति को स्नान करवा रही थी इसी से भिक्षा में

विलम्ब हुआ। इसके लिए आप क्षमा करें। मैं अपने सांसारिक काम सच्चाई और भक्ति से करती हूँ। इसी कारण मुझे गुप्त और प्रकट सभी बातों के जानने की शक्ति ईश्वर से प्राप्त हो गई है।

इस विषय में शिवाजी महाराज को सम्बोधन करके साधुवर्य तुकारामजी ने जो उपदेश किया है वह भी बहुत ही सरस है। शिवाजी महाराज के एक मराठी चरित्र में इस विषय में इस प्रकार लिखा हुआ है—"एक बार शिवाजी महाराज तुकारामजी का हरिकीर्तन श्रवण करने के लिए अपने साथियों के साथ गये। तुकाराम महाराज ने अपने कीर्तन में वैराग्य-वृत्ति का निरूपण करके ईश्वर की भक्ति करने का उपदेश श्रोताओं को दिया। सांसारिक वैभव और ऐश्वर्य की अस्थिरता, विषय-सुख की हानि और जीवन की क्षणभङ्गुरता का विवेचन सुनकर शिवाजी महाराज की चित्तवृत्ति में एक प्रकार का विचित्र परिवर्त्तन हो गया। वे चूँकि स्वभाव ही से भावुक और सदाचारी थे अतएव तुकारामजी के उपदेश का उनके मन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। उनके सरस और सरल हृदय को यह पूर्ण रूप से विश्वास हो गया कि तुकारामजी के उपदेश के अनुसार चलने से अवश्य ही मुक्ति प्राप्त होगी। कीर्तन समाप्त होने पर शिवाजी तुकाराम महाराज से बिदा होकर अपने स्थान को चले गये और थोड़ी देर बाद जङ्गल में, एकान्त में, जाकर उनके

उपदेश का मनन करने लगे। उनकी यह दशा देखकर उनके साथ के कुछ लोगों ने कहा कि इस अवस्था में आपका इस प्रकार विरक्त होना ठीक नहीं। किन्तु महाराज ने उनके कथन पर कुछ भी ध्यान न दिया। तब तो उन लोगों को बड़ी चिन्ता हुई और इसका सारा वृत्तान्त उनकी माता जिजाबाई के पास लिख भेजा। जिजाबाई बहुत शीघ्र पालकी पर बैठकर वहाँ आईं। वे पहले सीधे तुकारामजी के पास गईं। उन्होंने विनती करके उपर्युक्त सब वृत्तान्त उनको बतलाया। उन्होंने कहा—"स्वामीजी! मेरा पुत्र शिवाजी आपका हरिकीर्तन सुनकर विरक्त हो गया है और घर को छोड़कर जङ्गल में जा बैठा है। अब उसके प्राप्त किये हुए राज्य को कौन सँभालेगा? वह फिर यवनों के हाथ में चला जायगा और बेचारी हिन्दू-प्रजा को फिर विधर्मियों से तङ्ग होना पड़ेगा। अतएव आप इसकी ओर ध्यान दें और उसको राज्य-प्रबन्ध का उद्योग न छोड़ने के विषय में उपदेश दें।" राज-माता का यह नम्रता-पूर्ण निवेदन सुनकर तुकारामजी ने आश्वासन देकर कहा—शिवाजी महाराज आज रात को फिर कीर्तन सुनने आवेंगे तब मैं उनको समझाकर फिर राज्य की ओर उनका मन आकर्षित करने का प्रयत्न करूँगा।

इस प्रकार प्रबन्ध करके उस रात को स्वयं जिजाबाई तुकारामजी का कीर्तन सुनने आईं। महाराज शिवाजी भी नित्य-नियमानुसार आये। आज के कीर्तन में तुकाराम ने कर्म-

काण्ड का प्रयोजन बतलाकर यह विवेचन किया कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म और कर्तव्य के अनुसार ही चलना चाहिए। इसी में कल्याण है। ईश्वर-भक्ति के लिए घर छोड़कर जङ्गल में जाने की कोई आवश्यकता नहीं। लोगों के बीच में रह-कर अपना कर्तव्य उत्तम रीति से करते हुए अपने देश-भाइयों के सुख की यथाशक्ति वृद्धि करने में ही रात-दिन प्रयत्न करते रहना चाहिए।

२०—कवि का त्याग

[श्रीयुत सुदर्शन]

रात आधी से अधिक बीत चुकी थी। आकाश पर तारों की सभा सुसज्जित थी। कवि उन्हें देखता था, और सोच-सोचकर कुछ लिखता जाता था। वह कभी लेटता, कभी बैठता, कभी टहलता, और कभी जोश से हाथों की मुट्ठियाँ कसकर रह जाता था। वह कविता लिख रहा था।

इसी प्रकार रात्रि समाप्त हो गई, परन्तु कवि का गीत अभी तक अधूरा था। सूर्योदय की लाली देखकर उस पर निराशा-सी छा गई; मानों वे उसके जीवन के अन्तिम क्षण हों। उस समय उसका मुख कुम्हलाया हुआ फूल था, आँखें थीं उजड़ी हुई सभा। कभी वह अपने गीत को देखता, कभी आकाश को—उसका हृदय प्रातःकाल के प्रकाश में रात्रि

के अन्धकार को खोजता था, जिसमें तारे मुस्कराते थे, और मन्द-मन्द चाँदनियाँ अपनी क्षीण किरणों के लम्बे-लम्बे हाथ बढ़ाकर सोती हुई सृष्टि के अचेत मस्तिष्कों पर सुन्दर स्वप्नों से जादू करती थीं। वह इस जादू का गीत गा रहा था। परन्तु अब प्रातःकाल हो चुका था। अकस्मात् कवि के मस्तिष्क में एक विचार उत्पन्न हुआ। उसने काग़ज़-पिंसल ली, और नदी की ओर चल पड़ा। वहाँ एकान्त था। उसने अपने हृदय के अन्धकार को बाहर निकाला, और उस काल्पनिक अन्धकार में गीत को पूरा किया। उस समय उसे ऐसी प्रसन्नता हुई मानों कोई राज्य मिल गया हो। अपने गीत को वह बार-बार पढ़ता था, और झूमता था। गाता था, और प्रसन्न होता था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे किसी बच्चे को सुन्दर रङ्गीन खिलौने मिल गये हों।

अचानक किसी के पैर की चाप सुनाई दी। कवि चौंक पड़ा, जैसे मृग का बच्चा आहट से चौंक उठता है। उसने अपने काग़ज़ के पुर्जे को छिपा लिया, और आँख उठाई। सामने लाला अमरनाथ 'अधीर' खड़े थे। कवि को देखकर वे मुस्कराये और बोले—क्या हो रहा है?

लाला अमरनाथ विद्या-रसिक पुरुष थे, पूरे अप-टु-डेट। उनसे और कवि से अतिशय मेल-मिलाप था। कवि निर्धन था, और साथ ही यह कि व्याह भी कर चुका था। उसके एक लड़का था, दो लड़कियाँ। प्रायः चिन्तित रहता था।

परन्तु जीवन की बहुत-सी आवश्यकताओं के होने पर भी उसे कोई काम इष्ट न था। वह इसमें अपनी मानहानि समझता था। प्रायः कहा करता—लोग कैसे मूर्ख हैं, थर्मा-मीटर से हल का काम लेना चाहते हैं। लाला अमरनाथ उसकी कविता पर लट्टू थे। कभी उसकी कविता का एक पद भी सुन लेते तो मस्त होकर झूमने लगते। धनाढ्य पुरुष थे, रुपये-पैसे की कुछ परवा न थी। वे उदारता से कवि की सहायता किया करते थे। इसमें उन्हें हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था।

कवि ने उन्हें देखा तो आँखों में रौनक़ आ गई। श्रद्धा-भाव से उत्तर दिया—एक गीत लिख रहा था।

"क्या शीर्षक है?"

"चन्द्रलोक।"

"वाह वा! शीर्षक तो बहुत अच्छा है। देखूँ कैसा लिखा है?"

कवि ने गीत लाला अमरनाथ के हाथ में दे दिया, और रुक-रुककर कहा—सारी रात जागता रहा हूँ।

"हुँ।"

लाला अमरनाथ ने कविता पढ़ी तो उनके आश्चर्य की थाह न थी। उन्होंने कविता की सैकड़ों पुस्तकें देखी थीं। बीसों कवियों से उनका परिचय था, परन्तु जो कल्पना, जो सौन्दर्य्य, जो प्रभाव इस कविता में था वह इससे पहले

देखने में न आया था। वे अपने आप में मग्न हो गये। काग़ज़ उनके हाथों में काँपने लगा। उन्होंने कवि की ओर श्रद्धा-भरी दृष्टि से देखा, मानों वह कोई देवता है, और आनन्द के जोश में काँपते हुए कहा—कवि!

२

कवि मन की अवस्था को समझ गया। उसे अपनी आत्मा की गहराइयों में सच्चे आनन्द और अभिमान का अनुभव हुआ। उसने धड़कते हुए हृदय से उत्तर दिया—जी!

"यह कविता तुम्हारी है?"

कवि को ऐसा जान पड़ा जैसे किसी ने गाली दे दी हो। लज्जा ने मुँह लाल कर दिया। उसने एक विचित्र कटाक्ष से लाला अमरनाथ की ओर देखा, और कहा—हाँ, मेरी है।

"मैंने ऐसी कविता आज तक नहीं देखी।"

कवि का मस्तिष्क आकाश पर था। इस समय उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो संसार अपनी अगणित जिह्वाओं के साथ उसकी कविता की प्रशंसा कर रहा है। तथापि उसने धीर भाव को न छोड़ा। मनुष्य जो सोचता है, प्रायः उसे प्रकट करने को ओछापन समझता है। कवि ने सिर झुकाया और उत्तर दिया—यह आपका बड़प्पन है।

लाला अमरनाथ ने जोश से कहा—बड़प्पन है? नहीं। मैं तुम्हारी अनुचित प्रशंसा नहीं करता। तुम सचमुच इस योग्य

हो। तुम अपने गुणों से अपरिचित हो। परन्तु मेरी दूरदर्शी आँखें साफ़ देख रही हैं कि कीर्त्ति तुम्हारी ओर पूरे वेग से दौड़ती हुई आ रही है। और वह समय अति निकट है, जब सफलता तुम्हारे लिए अपने सौवर्ण द्वार खोल देगी, विस्मित न हो, आश्चर्य न करो। कवि! तुम वास्तव में कवि हो। तुम्हारी कल्पना गगन-मण्डल की उँचाइयों को छूती है, और तुम्हारा ज्ञान प्रकृति की नाईं विस्तृत है। नवीनता तुम्हारी कविता का सौन्दर्य्य है, और प्रभाव उसका अङ्ग-विशेष है। मैं सच कहता हूँ, तुम्हारी कविता पर लोग हठात् वाह वा करेंगे; और संसार तुम्हारा आदर करने को विवश होगा।

प्रशंसा के वचन साहस बढ़ाने में अचूक औषधि का काम देते हैं। कवि ने अभिमान से सिर ऊँचा किया और कहा—मैंने ऐसे गीत और भी तैयार किये हैं।

"कितने ?"

"इससे पहले ग्यारह बना चुका हूँ। यह बारहवाँ है।"

लाला अमरनाथ पर जैसे किसी ने जादू कर दिया। उनको ऐसी प्रसन्नता हुई जैसे किसी निर्धन को दबा हुआ ख़ज़ाना मिल गया हो। बच्चों की-सी अधीरता से बोले—वे कहाँ हैं ?

कवि ने उत्तर दिया—घर पर।

"चलो, मैं अभी देखना चाहता हूँ"

कवि का शरीर रात भर जागने से चूर-चूर हो रहा था। परन्तु कविता दिखलाने के शौक़ ने थके हुए पैरों को पर

लगा दिये। दोनों उड़ते हुए घर पहुँचे। लाला अमरनाथ ने गीत देखे तो सन्नाटे में आ गये, जैसे कोयलों में हीरे मिल गये हों। वे कवि पर मुग्ध थे, उसकी कविता पर लट्टू। परन्तु उनको यह आशा न थी कि कवि इतनी उच्च कोटि पर पहुँच गया होगा। वे "दर्पण" नामक एक अत्युत्तम सचित्र मासिक पत्र निकालने के विचार में थे। कवि की कविताएँ देखकर यह विचार पक्का हो गया। जोश से बोले—"दर्पण" तुम्हें कीर्ति की पहली पङ्क्ति में स्थान दिलावेगा।

कवि के मस्तिष्क में आशा की किरण का प्रकाश हुआ, जैसे अँधेरी रात में बिजली चमक जाती है। उसने सहर्ष धड़कते हुए हृदय और काँपते हुए हाथों से गीत अमरनाथ के हाथ में दे दिये।

३

इसके दूसरे दिन कवि सोकर उठा तो कमर में दर्द था। परन्तु बेपरवाही कवियों का एक विशेष अङ्ग है।

उसने इस ओर तनिक भी ध्यान न दिया और "मानवीय प्रकृति" पर विचार करने में लग गया। वह ग्रन्थों के पढ़ने की अपेक्षा इसके गौरव को बहुत मानता था। इस प्रकार दो-चार दिन बीत गये। दर्द बढ़ता गया। यहाँ तक कि लेटना और बैठना कठिन हो गया। कवि को कुछ चिन्ता हुई। भागा-भागा वैद्य के पास पहुँचा। पता लगा, फोड़ा

है। वैद्य ने मर्हम लगाने को दिया। परन्तु उससे भी कुछ लाभ न हुआ। यहाँ तक कि रात को सोना भी कठिन हो गया। उस समय कवि को विचार आया, किसी डाक्टर को दिखाना चाहिए। लाला अमरनाथ को साथ लेकर वह डाक्टर कुँवरसेन के पास पहुँचा। डाक्टर साहब लाला अमरनाथ के मित्रों में से थे। उन्होंने बड़े परिश्रम से फोड़ा देखा। चिन्तित से होकर बोले—आपने बड़ी बेपरवाही की, कारबङ्कल है।

लाला अमरनाथ ने चौंककर कहा—वह क्या होता है?

"एक सख़्त क़िस्म का फोड़ा।"

"उसका उपाय भी कुछ है या नहीं?"

डाक्टर साहब कुछ देर चुप रहे, और फिर उत्तर दिया—केवल एक उपाय है। मर्हम से यह अच्छा न होगा।

कवि ने अधीर होकर पूछा—क्या?

"आपरेशन।"

कवि की आँखों के सामने मौत फिर गई, घबराकर बोला—आपरेशन सख़्त तो नहीं?

"मैं आपको धोखे में रखना नहीं चाहता। आपरेशन सख़्त है। यदि आप पहले आ जाते तो यह भयानक रूप धारण न करता।"

लाला अमरनाथ का मुख इन्द्रधनुष की मूर्त्ति था। घबराकर बोले—क्या इसके सिवा और कोई उपाय नहीं?

"कोई नहीं।"

"तो आपरेशन करवा देना चाहिए।"

"अवश्य और जल्दी। साधारण विलम्ब भी हानि पहुँचा सकता है।"

लाला अमरनाथ ने पूछा—आपरेशन किससे करवाना उचित होगा ?

"मेरे विचार में सरकारी अस्पताल सबसे अच्छा स्थान है।"

लाला अमरनाथ ने कवि की ओर करुण-दृष्टि से देखकर कहा—तो करवा लो।

कवि तनकर खड़ा हो गया; मानों उसको साहस ने पैरों-तले कुचल डाला। इस समय उसके मुख पर निर्भयता के चिह्न थे; साहस से बोला—साधारण बात है। अब आपरेशन कोई अनोखा काम तो नहीं रहा। प्रति दिन होते रहते हैं।

वह दूसरे दिन आपरेशन-रूम में मेज़ पर लेटा हुआ था।

४

एकाएक सर्जन साहब घबराये हुए बाहर निकले। अमरनाथ का कलेजा धड़कने लगा। उन्होंने आगे बढ़कर पूछा—साहब! आपरेशन हो गया ?

सर्जन के मस्तक पर पसीने की बूँदें टपक रही थीं,—"तुम उसका कौन होटा है?"

"मैं उसका मित्र हूँ। उसका क्या हाल है?"

"हार्ट फ़ेल हो गया।"

अमरनाथ पर जैसे बिजली गिर पड़ी। चिल्लाकर बोले—क्या कहा आपने?

"मैन! उसका हार्ट फ़ेल हो गया। दिल का धड़कना रुक गया।"

"तो वह मर गया?"

"यस! हमको यह होप न था।"

कवि की स्त्री सुशीला अमरनाथ से कुछ दूर खड़ी थी। यह सुनकर पास आ गई, और रोती हुई बोली—भाई मुझे धोखे में न रक्खो। जो बात हो साफ़-साफ़ कह दो।

अमरनाथ को कवि से हार्दिक प्रेम था। वह उसे इस प्रकार चाहते थे, जैसे भाई भाई को चाहता है। और इतना ही नहीं, उन्हें उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ थीं। प्राय: सोचा करते थे, यह भारतवर्ष का नाम निकालेगा। इसकी कविता टागोर और अनातोल फ़ान्स के समान है। वे जब उसकी "चन्द्रलोक" को देखते तब मतवाले हो जाते थे। इस समय सर्जन के शब्दों ने उनके कलेजे पर अङ्गारे रख दिये। उनको एकाएक विश्वास न आया कि कवि सचमुच मर गया है। उन्होंने रेत की दीवार खड़ी की। उसकी स्त्री के प्रश्न

का उत्तर न दिया, और दौड़ते हुए कमरे में घुस गये। कवि मेज़ पर लेटा हुआ था, और सर्जन निराशा के साथ सिर हिला रहा था। रेत की दीवार गिर गई। अमरनाथ के हृदय पर कटारें चल गईं। सोचने लगे, कैसा सुन्दर तारा था, परन्तु उदय होने से पहले ही अस्त हो गया। इससे क्या-क्या आशाएँ थीं, सब धूल में मिल गईं। सुना था, पवित्र और पुण्यात्मा जीव इस पापमय जगत् में अधिक समय तक नहीं ठहरते। इस समय इसका समर्थन हो गया।

अमरनाथ बाहर निकले तो मुँह पर सफ़ेदी छा रही थी। सुशीला सामने आई, वह निराशा की मूर्त्ति थी। उसकी आँखें इस प्रकार खुली थीं मानों आत्मा की सारी शक्तियाँ आँखों में एकट्ठी होकर किसी बात की प्रतीक्षा कर रही हों। उसने अमरनाथ को देखा तो अधीर होकर बोली—बोलो, क्या हुआ ?

अमरनाथ की आँखों में आँसू आ गये। सुशीला को उत्तर मिल गया। उसने अपने दोनों हाथ सिर पर मारे, और पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर गई।

अमरनाथ और भी घबरा गये। सुशीला को सुध आई, तो उसने आकाश सिर पर उठा लिया। उसका करुण-विलाप अमरनाथ के घावों पर नमक का काम कर गया। उनको साहस न हुआ कि उसकी ओर देख सकें। उसका रुदन हृदय को चीर देनेवाला था, जिसको सुनकर उनकी आत्मा

थर्रा उठी। उन्होंने जेब से सौ रुपये के नोट निकाले और उसके हाथ में देकर ऐसे भागे, जैसे कोई बन्दूक़ लेकर उनके पीछे आ रहा हो। यह दृश्य उनके कोमल हृदय के लिए असह्य था। घर जाकर सारी रात रोते रहे। उनको इस बात का निश्चय हो गया कि कवि की स्त्री, इस मृत्यु का हेतु, मुझे समझ रही है। अतएव उसके सामने जाते हुए डरते थे। सहानुभूति का सच्चा भाव झूठे बहम को दूर न कर सका।

कई दिन व्यतीत हो गये। अमरनाथ के हृदय से कवि की असमय और दुःखमय मृत्यु का शोक मिटता गया। घायल हृदयों के लिए समय बहुत गुणकारी मर्हम है। प्रातः-काल था। प्रेस-कर्मचारी "दर्पण" का अन्तिम प्रूफ़ लेकर आया। उसमें कवि की कविता थी। अमरनाथ के घाव हरे हो गये। कवि प्रायः कहा करता था कि कवि की सन्तान उसकी कविता है, अमरनाथ को यह कथन याद आ गया। कवि की कविता देखकर उनको वही दुःख हुआ जो किसी प्यारे मित्र के अनाथ बच्चे को देखकर हो सकता है। उन्होंने ठण्डी साँस भरकर प्रूफ़ देखना आरम्भ किया। कविता से नवीन रस टपकने लगा। सहसा उनके हृदय में एक पाप-पूर्ण भाव ने सिर उठाया। उन्होंने कुछ समय तक विचार किया, और फिर काँपती हुई लेखनी से कवि का नाम काट-कर उसके स्थान में अपना नाम लिख दिया। मनुष्य का

हृदय एक अथाह सागर है, जहाँ कमल के फूलों के साथ रक्त की प्यासी जोंकें भी उत्पन्न होती रहती हैं। ✓

५

दर्पण का पहला अङ्क निकला तो पढ़े-लिखे संसार में धूम मच गई। लोग देखते थे, और फूले न समाते थे। दर्पण भाव और भाषा दोनों प्रकार से अत्युत्तम था, और विशेषत: "चन्द्रलोक" की काव्यमाला की पहली कविता पर तो कवि-संसार लट्टू हो गया। एक प्रसिद्ध मासिक पत्र ने तो उसकी समालोचना करते हुए लिखा—

"यों तो दर्पण का एक-एक पृष्ठ रत्न-भाण्डार से कम नहीं, परन्तु 'चन्द्रलोक' की पहली कविता देखकर तो हृदय नाचने लगता है। इसकी एक-एक पंक्ति में अधीर महाशय ने जादू भर दिया है, और रसिकता की नदी बहा दी है। सुना करते थे कि कविता हृदय के गहन भावों का विशद चित्र है। यह कविता देखकर इस कथन का समर्थन हो गया। निस्सन्देह अधीर महाशय की ये कविताएँ हिन्दी भाषा को फ़्रांसीसी और अँगरेज़ी के समान उच्च कोटि पर ले जायँगी। अधीर महाशय साहित्य के आकाश पर सूर्य्य की नाईं एकाएक चमके हैं। और एक ही कविता से कवियों की पंक्ति में शिरोमणि हो गये हैं"

एक दूसरे समाचार-पत्र ने लिखा—

"अधीर महाशय की कविता क्या है, एक जादू भरा सौन्दर्य्य है। हिन्दी-भाषा का सौभाग्य समझना चाहिए कि इसमें ऐसे सूक्ष्म भावों के वर्णन करनेवाले उत्पन्न हो गये हैं, जिन पर भावी सन्तति उचित रूप से अभिमान करेगी। हमें दृढ़ विश्वास है कि यदि यह कविता इसी सुन्दरता से पूरी होती गई तो इसे हिन्दी में वह दर्जा प्राप्त हो जायगा जो संस्कृत में 'शकुन्तला' को, अँगरेज़ी में 'पैराडाईज़ लास्ट' को और वङ्ग-भाषा में 'गीताञ्जलि' को प्राप्त है। अधीर का नाम इस कविता से अटल हो जायगा।"

इतना ही नहीं, इस कविता का अनुवाद बँगला, मरहठी, गुजराती, अँगरेज़ी और फ़्रांसीसी पत्रों में प्रकाशित हुआ और बहुत प्रशंसा के साथ। अमरनाथ जिस पत्र को देखते उसमें अपना उल्लेख पाते। इससे उनकी आत्मा गद्गद हो जाती, परन्तु कभी-कभी हृदय में एक धीमी-सी आवाज़ सुनाई दे जाती थी, "तू डाकू है"। अमरनाथ इस अन्तःकरण की आवाज़ को सुनते तो चौंक उठते, परन्तु फिर दृढ़ सङ्कल्प के साथ उसको अन्दर ही अन्दर दबा देते थे।

इसी प्रकार एक वर्ष बीत गया। लाला अमरनाथ का नाम भारतवर्ष से निकलकर योरप तक पहुँच गया। अँगरेज़ी पत्रों में उनकी कला पर लेख प्रकाशित हुए। मासिक-पत्रों ने उनके फ़ोटो दिये। कविता पूरी हुई तो प्रकाशक उस पर

इस प्रकार टूटे जैसे पतङ्ग दीपक पर टूटते हैं। अँगरेज़ी पब्लिशरों ने अनुवाद के लिए बड़ी-बड़ी रक़में भेंट कीं। अमरनाथ के पैर भूमि पर न लगते थे। परन्तु कभी-कभी जब अपनी करतूत याद आती तब प्राण सूख जाते थे, जिस प्रकार विवाह की रँगरेलियों में मृत्यु का विचार आनन्द को किरकिरा कर देता है। परन्तु उन्होंने अपने मृत मित्र को सर्वथा भुला दिया हो, यह बात न थी। वे उसकी स्त्री के नाम हर महीने पचास रुपये का मनीआर्डर करा दिया करते थे। वे इसे अपना कर्त्तव्य समझते थे।

६

रात्रि का समय था। कवि के मकान में शोक छाया हुआ था। वह मौत से तो बच गया था, परन्तु पाँच मील की दूरी पर अपने गाँव चला आया था, और मृतक के समान वर्ष भर से खाट पर पड़ा था। इस रोग ने उसके शरीर का रक्त चूस लिया था, मुख का रङ्ग उड़ गया था! अब वह केवल हड्डियों का पिंजर रह गया था। दिन-रात चारपाई पर लेटा रहने के कारण उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो गया था। इस पर अमरनाथ का एक बार भी न आना उसके क्रोधाग्नि पर तेल का काम कर गया। वह आठों पहर दुखी रहता था, और अमरनाथ को गालियाँ देता रहता था। सुशीला समझाती, नहीं आते तो क्या हुआ, अब कोई तुम्हारे शत्रु तो

नहीं हो गये। पचास रुपया मासिक भेज रहे हैं, नहीं तो दवा के लिए भी तरसते फिरते। क्या जाने, किसी आवश्यक कार्य में लगे हों। कवि यह सुनता तो तलमला उठता, और कहता—"रुपया वापस दिया जा सकता है, परन्तु सहानुभूति के दो वचन वह ऋण है जिसे चुकाना मनुष्य की शक्ति के बाहर है।" यदि उसके वश में होता तो वह रुपये वापस कर देता। उपेक्षा भाव मनुष्य के लिए एक निकृष्टतर व्यवहार है। वह गालियाँ सह सकता है, मार खा सकता है, पर उपेक्षा नहीं सह सकता। कवि इस प्रकृति का मनुष्य था।

रात्रि का समय था। कवि के मकान में एक मिट्टी का दीपक जल रहा था, जैसे निराशा की अवस्था में आशा की किरण टिमटिमाती है। कवि चारपाई पर लेटा हुआ था, और सोच रहा था, परमेश्वर जाने "चन्द्रलोक" का क्या बना! उसे यह भी ज्ञान न था कि दर्पण निकला भी है या नहीं। इस कविता से क्या-क्या आशाएँ थीं। रोग ने सब मिट्टी में मिला दीं। इतने में दरवाज़ा खुला। कवि का एक मित्र रत्नलाल अन्दर आया। उसके हाथ में एक सजिल्द पुस्तक थी। कवि ने पूछा—यह क्या है?

"दर्पण का फ़ाइल है।"

कवि का कलेजा धड़कने लगा। उसने विस्मित होकर पूछा—क्या दर्पण का फ़ाइल?

"हाँ। देखोगे?"

"अवश्य ! ज़रा दीपक इधर ले आओ।"

बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। सुशीला उनके लिए रोटी पका रही थी। आटे की लोई बनाते-बनाते बोली—अब क्या पुस्तक पढ़ोगे? हकीम ने मना किया है, कहीं फिर बुख़ार न आ जाय।

परन्तु कवि सुना अनसुना करके दर्पण का फ़ाइल देखने लगा। अपनी पहली कविता देखकर उसका चेहरा खिल गया जैसे फूल की कली। एक-एक पद पढ़ता था, और सिर धुनता था। सोचता था, क्या यह मेरे मस्तिष्क की रचना है। कैसा निरालापन है, कैसे ऊँचे विचार हैं। एक-एक विचार में आकाश के तारे तोड़कर रख दिये गये हैं। उसको अपने भूतकाल पर ईर्ष्या होने लगी। क्या अब भी बुद्धि को यह कला प्राप्त है? हृदय शोक में डूब गया।

एकाएक कविता की समाप्ति पर दृष्टि गई। अमरनाथ 'अधीर' का नाम पढ़कर कवि के कलेजे में जैसे किसी ने गोली मार दी। उसको उनसे इसकी आशा न थी। उसको यह विचार भी न हो सकता था कि अमरनाथ इतने पतित हो सकते हैं। अपने परिश्रम पर यह डाका देखकर कवि का रक्त उबलने लगा, और आँखों से अग्नि के चिङ्गारे निकलने लगे। वह क्रोध से तकिये का सहारा लेकर बैठ गया, और अपने मित्र से बोला—काग़ज़ और क़लम-दावात लाओ। मैं एक गीत लिखूँगा।

इससे पहले वह कई बार गीत लिखने को तैयार हुआ परन्तु दुर्बलता ने उसके इस विचार को पूरा न होने दिया। रत्नलाल ने उत्तर दिया—रहने दो। तुम्हारा मस्तिष्क काम न कर सकेगा।

कवि ने अपने हाथ की मुट्ठियाँ कस लीं और भूखे शेर की नाईं गरजकर कहा—तुम क़लम-दावात लाओ। मैं लिखा सकूँगा।

रत्नलाल ने मैशीन के समान आज्ञा-पालन किया। कवि बोला,—शीर्षक लिखो "लुटी हुई कीर्ति।"

रत्नलाल ने लिखकर कहा—लिखाइए।

कवि ने लिखवाना आरम्भ किया।

कविता का स्रोत खुल गया। जिस प्रकार वर्षा के दिनों में नदी-नालों में बाढ़ आ जाती है, उसी प्रकार इस समय कविता का प्रवाह वेग से बह रहा था। विचार अपने आप ग्रथित हो रहे थे। उसे सोचने की आवश्यकता न थी। परन्तु कविता साँचे में ढली हुई थी, मानों जिह्वा पर सरस्वती आकर बैठ गई थी। क्या सुलझे हुए विचार थे, कैसे प्रभाव-शाली भाव थे। पद पद से अग्नि के चिङ्गारे निकल रहे थे। जिस प्रकार नव-वधू का सुहाग उजड़ जाने पर उसका हृदय-वेधी चीत्कार करुणा-भरे हृदय में हलचल मचा देता है, उसी प्रकार इस कविता को देखकर मस्तिष्क खौलने लगता था, और हृदय में विचार विश्वास बनकर बैठ जाता था कि

कोई अत्याचार-पीड़ित व्यक्ति अत्याचारी के विरुद्ध पुकार कर रहा है।

एकाएक दरवाज़ा खुला। अमरनाथ अन्दर आये। इस समय उनका मुख-मण्डल अस्त हो रहे सूर्य के समान लाल था। कवि ने उनको देखा तो चौंक पड़े, जैसे पाशबद्ध पक्षी व्याध को देखकर चौंक उठता है। कवि ने घृणा से मुँह फेर लिया, परन्तु अमरनाथ ने उसकी परवा न की और रोते हुए कवि के पैरों से लिपट गये, जैसे दोषी बालक पिता की गोद में मुँह छिपाकर रोता है।

रत्नलाल और सुशीला दोनों आश्चर्य में थे। कवि ने रुखाई से कहा—यह क्या करते हो?

अमरनाथ ने उत्तर दिया—मैंने तुम्हारा अपराध किया है। जब तक क्षमा न करोगे, पैर न छोड़ूँगा। मुझे आज ही मालूम हुआ है कि तुम जीवित हो, नहीं तो यह पाप न होता।

कवि ने कुछ देर सोचा और कहा—तुम्हें लज्जा तो न आई होगी?

"यह कुछ न पूछो, अब क्षमा कर दो।"

"प्रकृति के कान क्षमा के नाम से अपरिचित हैं। प्रायश्चित्त करो।"

"वह मैं कर दूँगा।"

"परन्तु कैसे?"

अमरनाथ ने जेब से एक कागज़ निकाला, और कवि के

हाथ में रख दिया। कवि ने उसे पढ़ा, और स्तम्भित रह गया। क्या तुम यह नोट प्रकाशित कर दोगे?

"इसके सिवा उपाय ही क्या है?"

"इतना यश छोड़ दोगे?"

"छोड़ दूँगा।"

"तुम्हारी निन्दा होगी। लोग क्या कहेंगे?"

अमरनाथ ने आग्रह के साथ कहा—कुछ भी कहें। मैं अपने दोष को स्वीकार करूँगा। इससे मेरा अन्तःकरण शान्त हो जायगा। कवि! संसार मुझसे ईर्ष्या करता है परन्तु मुझे रात को नींद नहीं आती। मैंने तुम्हारे परिश्रम का लाभ उठाया है, तुम्हारी रचनाओं ने मेरा नाम योरप तक पहुँचा दिया है। परन्तु—तुम यह कीर्ति, यह नाम एक दिन में मुझसे वापस ले सकते हो। मैं उस कौवे के समान हूँ जिसने मोर के पङ्ख लगाकर सुन्दर प्रसिद्ध होना चाहा था। तुम्हारी कविताओं का भाण्डार समाप्त हो चुका है। अब मैं शुष्क स्रोत हूँ। संसार मुझसे नये विचार, नये भाव माँगेगा। मैं उसे क्या दे सकता हूँ! नहीं, नहीं, मैं अपना पाप स्वीकार कर लूँगा, और तुम्हारी कीर्त्ति तुम्हारे अर्पण करूँगा। बोलो, मुझे क्षमा कर दोगे?

कवि का हृदय भर आया। उसके नेत्रों में आँसू लहराने लगे। उन आँसुओं में हृदय की घृणा बह गई। उसने सच्चे हृदय से उत्तर दिया—यह न करो, मैं तुम्हे क्षमा करता हूँ।

अमरनाथ तनकर खड़े हो गये, और बोले—प्रायश्चित्त किये बिना मुझे शान्ति न मिलेगी।

अमरनाथ ने जेब से नोटों का एक बण्डल निकाला, और कवि को देकर कहा—यह तुम्हारी दौलत है।

कवि ने गिना तीन हज़ार के नोट थे। पूछा—ये कैसे हैं?

"अँगरेज़ी एडीशन की रायल्टी है। इसे अस्थायी आय समझो। मैंने पबलिशर को सूचना दे दी है कि भविष्य में रायल्टी सीधी तुम्हें भेजी जाय।"

कवि की आँखों में आँसू भर आये। वह अमरनाथ के गले से लिपटकर रोने लगा।

७

दिन चढ़ा तो कवि की अवस्था बहुत कुछ बदल चुकी थी। इतने में अमरनाथ का एक नौकर आया। उसके मुख का रङ्ग उड़ा हुआ था। आते ही बोला—लालाजी चल बसे।

कवि का कलेजा मुँह को आ गया। उसने ज़ख्मी पत्ती की नाईं तड़पकर कहा—क्या कहा तुमने?

"लालाजी चल बसे। रात को कुछ खा लिया।"

कवि के हृदय में क्या-क्या उमङ्गें भरी हुई थीं, सब पर पानी फिर गया। अमरनाथ की भलाइयाँ सामने आ गईं। कैसा देवता मनुष्य था! पाप का प्रायश्चित्त किस शान से

कर गया ! हाथ आया हुआ धन किस सुगमता से मेरे अर्पण कर दिया। और इतना ही नहीं, मेरी कीर्त्ति मुझे वापस दे गया। अपने पाप को अपने हाथ से स्वीकार कर गया। कवि का हृदय रोने लगा।

सहसा विचार आया, अब "चन्द्रलोक" के लेखक होने का दावा करना ओछापन है। वह मेरे साथ इतनी भलाई करता था, क्या मैं उसके शव का अपमान करूँगा ! कवि ने उदारता का प्रमाण देने का निश्चय कर लिया, और ताँगे में बैठकर वर्ष भर के रोग के पश्चात् पहली बार शहर के श्मशान में प्रवेश किया। वहाँ नगर भर के बड़े-बड़े विद्वान् मौजूद थे। कवि ने "अधीर की कविता" पर एक ओजस्विनी वक्तृता की और उसकी प्रशंसा में कोश के सुन्दर और रसीले शब्द समाप्त कर दिये।

दूसरे मास का "दर्पण" कवि की एडीटरी में प्रकाशित हुआ। उसमें स्वर्गवासी "अधीर" के नाम से एक हृदय-वेधक कविता प्रकाशित हुई, जिसका शीर्षक "लुटी हुई कीर्त्ति" था, और कवि की ओर से एक छोटा-सा नोट निकला।

"अधीर मर गये, परन्तु उनकी कविता अमर है। पाठक यह पढ़कर प्रसन्न होंगे कि अधीर अपने पीछे कविताओं का एक बहुत बड़ा अप्रकाशित भाण्डार छोड़ गये हैं। ये कविताएँ दर्पण में क्रमशः निकलती रहेंगी।"

इसके पश्चात् कवि ने जो कविताएँ कीं वे अधीर के नाम से प्रकाशित हुईं। कैसा उच्च बलिदान है, कैसा निस्स्वार्थ त्याग है! संसार में रुपया-पैसा त्यागनेवालों की कमी नहीं। युद्ध-क्षेत्र की आग में कूद पड़नेवालों की कमी नहीं। परन्तु इन सबके सामने एक लालसा होती है, एक कामना कि हम मर जायँ, परन्तु हमारा नाम प्रसिद्ध हो जाय, जो अजर-अमर हो। परन्तु इस नाम का त्याग करनेवाले कितने हैं?

कवि ने मित्र के लिए अपने नाम को निछावर किया।

२१—पुनर्मिलन

[राजा लक्ष्मणसिंह]

(एक बालक सिंह के बच्चे को घसीटता हुआ लाता है और दो तपस्विनी उसे रोकती हुई आती हैं)

बालक—अरे सिंह, तू अपना मुँह खोल, मैं तेरे दाँत गिनूँगा।

पहली तपस्विनी—हे अन्यायी, तू इन पशुओं को क्यों सताता है। हम तो इन्हें बाल-बच्चों के समान रखती हैं। हाय तेरा साहस बढ़ता ही जाता है, तेरा नाम ऋषियों ने सर्वदमन रक्खा है, सो ठीक ही है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) अहा! क्या कारण है कि मेरा स्नेह इस बालक में ऐसा होता आता है जैसा पुत्र में होता है। हो न हो यह हेतु है कि मैं पुत्रहीन हूँ।

दूसरी तपस्विनी—जो तू बच्चे को छोड़ न देगा तौ
तुझ पर दौड़ेगी। गीती ॥

बालक—(मुसकाकर) ठीक है, सिंघनी का मुझे ऐसा ही
डर है।

[मुँह चिढ़ाता है]

दुष्यन्त—

दोहा

दीखत बालक मोहि यह तेजस्वो बलबीर।
काठ काज जैसे अगिनि ठाढ़ो है मतिधीर॥

पहली तपस्विनी—हे प्यारे बालक, तू सिंघ के बच्चे को छोड़
दे। मैं तुझे और खिलौना दूँगी।

बालक—कहाँ है, ला दे दे।

[हाथ पसारता है]

दुष्यन्त—इसके तौ लक्षण भी चक्रवर्तियों के से हैं क्योंकि—

माँग खिलौना लेन को जबहि पसार्‍यो हाथ।
जालगुँथी सी आँगुरी सब दीखीं एक साथ॥
मनहुँ खिलायो कमल कछु प्रात अरुण ने आय।
नैंक न पखुरिन बीच में अन्तर परत लखाय॥

दूसरी तपस्विनी—हे सुव्रता, यह बातों से न मानेगा। जा,
मेरी कुटी में एक मिट्टी का मोर ऋषिकुमार मार्कण्डेय
के खेलने का रक्खा है उसे ले आ।

इसके
[तप]स्विनी—मैं अभी ले आती हूँ।
से प्रका[शि]

[जाती है]

त्याग
[बा]लक—तब तक मैं इसी सिंघ के बच्चे से खेलूँगा।

[यह कहकर तपस्विनी की ओर हँसता है]

दुष्यन्त—(आप ही आप) इसके खिलाने को मेरा जी कैसा ललचाता है।

घनाक्षरी

हाँसी बिनहेत महिं दीखत बतीसी कछू
निकसी मनो है पाँति ओछी कलिकान की।
बोलन चहत बात टूटी सी निकसि जाति
लागति अनूठी मीठी बानी तुतलान की॥
गोद तें न प्यारी और भावे मन कोई ठाँव
दौरि दौरि बैठे छोड़ि भूमि अँगनान की।
धन्य धन्य वे हैं नर मैले जो करत गात
कनिया लगाइ धूरि ऐसे सुवनान की॥

दूसरी तपस्विनी—यह मेरी बात तो कान नहीं धरता (इधर-उधर देखकर) कोई ऋषिकुमार यहाँ है (दुष्यन्त को देखकर) हे महात्मा, तुम्हीं आओ। कृपा करके इस बली बालक के हाथ से सिंघ के बच्चे को छुड़ाओ। यह इसे खेल में ऐसा पकड़ रहा है कि छुड़ाना कठिन है।

दुष्यन्त—अच्छा।

[लड़के के पास जाकर और हँसकर]

चौपाई

आश्रमबासिन की यह रीती। पशु-पालन में राखत प्रीती॥
सो ऋषिसुत दूषित तैं कीनी। उलटी वृत्ति यहाँ क्यों लीनी॥
करत जन्म ही तें ये काजा। सो नहिं सोहत मुनिन समाजा॥
तैं यह कियो तपोवन ऐसो। कृष्ण सर्प शिशु चन्द्रहिं जैसो॥

दूसरी तपस्विनी—हे बड़भागी, यह ऋषिकुमार नहीं है।

दुष्यन्त—सत्य है, यह तो इसके आकार सदृश काम ही कहे देते हैं। परन्तु मैंने तपोवन में इसका बास देख ऋषि-पुत्र जाना था।

(जैसी मन में लालसा है, लड़के का हाथ अपने हाथ में लेकर आप ही आप)

दोहा

ना जानूँ का वंश कौ अंकुर यहै कुमार।
मो तन एतौ सुख भयो जाहि छुअत एक बार॥
वा बड़भागी के हिये कितो न होय उमङ्ग।
उपज्यो जाके अङ्ग तें ऐसो याको अङ्ग॥

तपस्विनी—(दोनों की ओर देखकर) बड़े अचम्भे की बात है।

दुष्यन्त—तुमको क्यों अचम्भा हुआ ?

तपस्विनी—इसलिए हुआ कि इस बालक की और तुम्हारी उन-हार बहुत मिलती है। और तुम्हें जाने बिना भी इसने तुम्हारा कहना मान लिया।

दुष्यन्त—(लड़के को खिलाता हुआ) हे तपस्विनी, जो यह ऋषिपुत्र नहीं तो किसका वंश है ?

तपस्विनी—यह पुरुवंशी है।

दुष्यंत—(आप ही आप) यह हमारे वंश का कैसे हुआ। और इस भगवती ने मेरी उनहार का इसे क्यों कहा। हाँ पुरुवंशियों में यह रीति तो निश्चय है कि—

दोहा

छितिपालन के कारने पहले लेत निवास।
जाय भवन ऐसेन में जहँ सब भोग विलास॥
पाछें बन में बसत हैं लै तरवर की छाँह।
इन्द्री जीतन को नियम धरि एकहि मन माँह॥

(प्रकट) परन्तु यह ऐसा स्थान नहीं है जहाँ मनुष्य अपने बल से आ सके।

दूसरी तपस्विनी—तुम सच कहते हो, इसकी मा मेनका नाम की अप्सरा की बेटी है। उसी के प्रताप से इसका जन्म देवपितर के इस तपोवन में हुआ है।

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह दूसरी बात आशा उपजाने-वाली हुई। (प्रकट) भला इसकी मा किस राजर्षि की पत्नी है ?

दूसरी तपस्विनी—जिसने अपनी विवाहिता स्त्री को बिना अप-राध छोड़ दिया, उसका नाम कौन लेगा !

दुष्यन्त—(आप ही आप) यह कथा तो मुझी पर लगती है। अब इस बालक की मा का नाम पूछूँ। (सोचकर) परन्तु पराई स्त्री का वृत्तान्त पूछना अन्याय है।

(तपस्विनी मिट्टी का मोर लिये हुए आती है)

तपस्विनी—हे सर्वदमन, यह शकुन्तलावण्य देख।

बालक—(बड़े चाव से देखकर) कहाँ है शकुन्तला मेरी मा ?

दोनों तपस्विनी—यह मा के प्यारे नाम से धोखा खा गया।

दूसरी तपस्विनी—मुन्ना, मैंने तो यह कहा था कि मिट्टी के सुन्दर मोर को देख।

दुष्यन्त—(आपही आप) क्या इसकी मा का नाम शकुन्तला है! हुआ करे, एक नाम के अनेक मनुष्य होते हैं। कहीं मुझे दुःख देने को नाम का उच्चारण ही मृगतृष्णा न बनाया हो।

बालक—मुझे यह मोर बहुत अच्छा लगता है।

[खिलौने को लेता है]

पहली तपस्विनी—(घबड़ाकर) हाय हाय, इसकी बाँह से रक्षा-बन्धन कहाँ गया !

दुष्यन्त—घबड़ाओ मत, जब यह नाहर के बच्चे से खेल रहा था, इसके हाथ से गण्डा गिर गया, सो यह पड़ा है।

[गंडा उठाने को झुकता है]

दोनों तपस्विनी—मत उठाओ ! मत उठाओ ! हाय इसने क्यों उठा लिया।

(दोनों अचम्भे से छाती पर हाथ रखकर एक दूसरी की ओर देखती हैं)

दुष्यन्त—तुमने मुझे इसके उठाने से किसलिए बरजा ?

दूसरी तपस्विनी—सुनो महाराज, इस गण्डे का नाम अपराजित है। जिस समय इस बालक का जातकर्म्म हुआ, महात्मा मरीचि के पुत्र कश्यप ने यह दिया था। इसमें यह गुण है कि कदाचित् धरती पर गिर पड़े तो इस बालक को और इसके मा-बाप को छोड़ और कोई न उठा सके।

दुष्यन्त—और जो कोई उठा ले तो ?

पहली तपस्विनी—तो यह तुरन्त सर्प बनकर उसे डसता है।

दुष्यन्त—तुमने ऐसा होते कभी देखा है ?

दोनों तपस्विनी—अनेक बार।

दुष्यन्त—(प्रसन्न होकर आप ही आप) अब मेरा मनोरथ पूरा हुआ, मैं क्यों आनन्द न मनाऊँ।

[लड़के को गोद में लेता है]

दूसरी तपस्विनी—आओ सुव्रता, यह सुख का समाचार चलके शकुन्तला को सुनावें। वह बहुत दिन से वियोग के कठिन नेम कर रही है।

[दोनों जाती हैं]

बालक—मुझे छोड़ो, मैं अपनी मा के पास जाऊँगा।

दुष्यन्त—हे पुत्र, तू मेरे सङ्ग चलकर अपनी मा को सुख दीजो।

बालक—मेरा पिता तो दुष्यन्त है, तुम नहीं हो।

दुष्यन्त—(मुसका कर) यह विवाद भी मुझे प्रतीत कराता है।

(एक बेनी धारण किये शकुन्तला आती है)

शकुन्तला—(आप ही आप) मैं सुन तो चुकी हूँ कि सर्वदमन के गण्डे ने औसर पाकर भी रूप न पलटा परन्तु अपने भाग्य का मुझे कुछ भरोसा नहीं। हाँ, इतनी आशा है कि कदाचित् सानुमती का कहना सच्चा हो गया हो।

दुष्यन्त—(शकुन्तला को देखकर) अहा! यही प्यारी शकुन्तला है।

दोहा

नियम करत बीते दिवस दूबर अङ्ग लखात।
सीस एक बेनी धरे बसन धूसरे गात॥
दीरघ बिरहाव्रत सती साधति सुख बिसराय।
मो निरदय के कारने अपने शील सुभाय॥

शकुन्तला—(पछतावे में रूप बिगड़े हुए राजा को देखकर) यह तो मेरा पति सा नहीं है और जो नहीं है तो कौन है जिसने रक्षाबन्धन पहने हुए मेरे बालक को अङ्ग लगा के दूषित किया!

बालक—(दौड़ता हुआ माता के पास जाकर) माता, यह पुरुष कौन है जिसने पुत्र कहकर मुझे गोद में ले लिया?

दुष्यन्त—हे प्यारी मैंने तेरे साथ निठुराई तो बहुत की परन्तु परिणाम अच्छा हुआ क्योंकि मैं देखता हूँ कि तैंने मुझे पहचान लिया।

शकुन्तला—(आप ही आप) अरे मन तू धीरज धर, अब मुझे भरोसा हुआ कि विधाता ने ईर्षा छोड़ मुझ पर दया की है। (प्रकट) यह तो निश्चय मेरा ही पति है।

दुष्यन्त—हे प्यारी,

दोहा

सुधि आई सब भ्रम मिट्यो सफल भये मम काज।
धन्य भागि सुमुखी लखूँ सनमुख ठाढ़ी आज॥
अन्धकार मिटि ग्रहण कौ दूर होत सब सोग।
तुरत चन्द्र सों रोहिनी करति आय संयोग॥

शकुन्तला—महाराज की—

[इतना कहकर गद्गद बानी हो आँसू गिराती है]

दुष्यन्त—

दोहा

यदपि शब्द जय कंठ में आँसुन रोक्यो आय।
पै न कछू शङ्का रही मैं लीनी जय पाय॥
दरशन तो मुख कौ भयो सुमुखी मोहि रसाल।
बिना लखोटा हू लगे अधर ओठ अति लाल॥

बालक—मा! यह पुरुष कौन है?

शकुन्तला—बेटा! अपने भाग्य से पूछ।

दुष्यन्त—(शकुन्तला के पैरों में गिरता है)

दोहा

मनतैं प्यारी दूर अब डारि बिलग अपमान।
वा छिन मेरे हिय रह्यो प्रबल कछू अज्ञान॥
तामस बस गति होति यह बहुतन की सुखवार।
फेंकत जिमि अहि जानिके अन्ध दियो गलहार॥

शकुन्तला—उठो प्राणपति! उठो! उन दिनों मेरे पूर्वजन्म के पाप उदय हुए थे जिन्होंने सुकर्म्मों के फल, मेरे दयावान् पति को मुझसे निःस्नेह कर दिया। (राजा उठता है) अब यह कहो कि मुझ दुखिया की सुध तुम्हें कैसे आई।

दुष्यन्त—जब सन्ताप का काँटा मेरे कलेजे से निकल जायगा तब सब कहूँगा।

दोहा

देखी अनदेखी करी मैं वा दिन भ्रम पाय।
तेरी आँसू बूँद जो परी अधर पै आय॥
सो पछतायो आज मैं पदमिनि लेहुँ सिटाय।
या आँसू को पोंछि जो रह्यो पलक तो छाय॥

[आँसू पोंछता है]

शकुन्तला—(राजा की अँगुली में अँगूठी देखकर) क्या यह वही मुदरी है?

दुष्यन्त—हाँ! इसी के मिलते मुझे तेरी सुध आई।

शकुन्तला—इसने बुरा किया कि जब मैं अपने स्वामी को प्रतीत कराती थी, यह दुर्लभ हो गई।

दुष्यन्त—हे प्यारी, अब तू इसे फिर पहन जैसे ऋतु के आने पर लता फिर फूल धारण करती है।

शकुन्तला—मुझे इसका विश्वास नहीं रहा। तुम्हीं पहने रहो।

———